गांधी-स्वाध्याय ग्रंथ—१

गांधीवाद की रूप-रेखा

[महापुरुष गांधी और उनके तत्त्वज्ञान का विवेचन]

लेखक

श्री रामनाथ 'सुमन'

भूमिका-लेखक

श्री राजेन्द्रप्रसाद

प्रकाशक

साधना-सदन

चेतगंज, काशी] और [किंग्सवे, दिल्ली

एक रुपया

प्रकाशक

साधना-सदन,

काशी और दिल्ली

प्रथम वार २१००	मार्च १९३९ ई०	मूल्य १)

मुद्रक

एस० एन० भारती

हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस,

नई दिल्ली।

लेखक की बात

आज की दुनिया अनेक विषमताओ और समस्याओ से पीडित है। इनके निराकरण के लिए कई तरह के हल सुझाये जा रहे है, कई तरह की विचार-धाराएँ हमारे सामने है। समाजवाद, साम्यवाद, फासिस्टवाद इत्यादि अनेक राजनीतिक और आर्थिक प्रवृत्तियो में परस्पर सघर्ष है। व्यक्ति और समाज में, वर्ग-वर्ग में सघर्ष है। जीवन की जटिलताएँ वढती जा रही है और ज्यो-ज्यो इनके हल के लिए नये-नये वादो का जन्म होता जाता है त्यो-त्यो रोग वढता ही जाता है।

इस विषमता और सघर्ष के वीच, जब मानवता का मानस-क्षितिज अन्धकार और बादलो से पूर्ण है, जब उसके मार्ग में काँटो का जाल विछा है, जब मनुष्य का मन शिथिल, उसका नैतिक बल विस्मृत और आध्यात्मिकता मूच्छित है तब गाधीजी एक नई आशा की ज्योति लेकर हमारे वीच आये है। मै यह दावा नहीं करता कि उनके सिद्धान्त ही एक मात्र सत्य है पर इतना जानता हूँ कि वे जीवन की सर्वांगीण समृद्धि के लिए सबसे अधिक उपयुक्त है क्योकि उनमें और सब विचार-पद्धतियो के श्रेष्ठ अश ले लिये गये है। और उनके साथ सब विचार-पद्धतियाँ जी सकती है।

गाधीदर्शन जीवन का क्रियात्मक विज्ञान है। वह प्रतिक्षण परीक्षण, परिष्करण, समन्वय और साधना से पुष्ट होता जा रहा है। वह सत्य की एक जीवित और प्रगतिशील प्रवृत्ति है। वह प्रयोग की अवस्था में है। इसलिए वह अन्तिम सत्य पाने का दावा नहीं करता पर उसने जो पाया तथा अनुभव किया है वह भारत और समस्त विश्व की दृष्टि मे अत्यन्त महत्वपूर्ण है। समाजवाद से कम महत्वपूर्ण नहीं—विस्तृति के ख्याल से भी और गहराई की दृष्टि से भी। इसलिए समय आ गया है कि हमारे समाजशास्त्री इसपर गम्भीरतापूर्वक विचार करे और इसका वैज्ञानिक विवेचन एव अध्ययन करे।

इस दिशा में यह एक छोटा-सा प्रयत्न है। गाधी-दर्शन का प्रमाणिक लेखक या तत्ववेत्ता बनने का मेरा दावा नहीं है—शायद आचरण और योग्यता भी नहीं है पर मै उसका एक नम्र विद्यार्थी होने का दावा अवश्य करता हूँ।

इस पुस्तक में बहुत गहराई में, तात्विक विवेचन पर, मैं नहीं गया हूँ। हिन्दी पाठक गाधीजी के विचारो के सम्बन्ध में बहुत कम जाग्रत और ग्रहणशील है। इसलिए उसे उनके सिद्धान्तो की रूप-रेखा का परिचय करा देना भर मेरा उद्देश्य है और चूँकि ये लेख समय-समय पत्र-पत्रिकाओ के लिए लिखे जाते रहे है इसलिए उनकी शैली को जान-बूझकर ऐसा रूप दिया गया है कि लोगो को समझने में कठिनाई न हो। इसीलिए कहीं-कहीं कुछ ज्यादा विस्तार है और आवश्यक अशो को स्पष्ट करने के लिए कहीं-कहीं पुनरुक्ति भी है। गाधी-दर्शन का विस्तृत वैज्ञानिक विवेचन तथा तुलनात्मक व्याख्या करते हुए एक बडा ग्रन्थ लिखने का मेरा इरादा है पर वह कब पूरा होगा, इसे अभी से कहना सरल नहीं है।

यह गाधीवाद की कोई प्रामाणिक व्याख्या है, यह दावा करना

सम्भव नहीं। इतना ही कि भरसक इसमें कोई वात गाधीजी के विचारो को तोडमरोडकर नहीं लिखी गई है। मेरी वडी इच्छा थी कि पू० वापू इन लेखो को एक वार देख लेते पर उनपर काम का जो वोझ है उसे देखते हुए फिलहाल यह सम्भव नहीं है। १९३३ ई० में जव मैं वापू के साथ था तव शुरू के ३-४ लेख मैंने उन्हे पढने को दिये थे। कठिनाई से समय निकालकर उन्होने थोडा देखा भी पर आगे वह देख न सके।

एक वात और। गाधीजी के वहुत से अनुयायी गाधीवाद शब्द का प्रयोग वहुत अच्छा नहीं समझते। यह ठीक है कि गाधी-दर्शन किसी वाद में बंधकर नहीं रह सकता। क्योंकि वह सम्पूर्ण जीवन का सर्वांगीण विज्ञान है। स्वय गांधीजी भी इसे पसन्द नहीं करते पर जव यह शब्द चल निकला है तो मुझे उसमें कोई विशेष आपत्ति योग्य वात नहीं मालूम होती। नाम का झगडा व्यर्थ है—असली प्रश्न यह है कि उससे हम क्या अर्थ और तात्पर्य ग्रहण करते है। यदि गाधीवाद शब्द 'सर्वोदय' के अर्थ में लिया जाता है तो इसमें आपत्ति की कोई वात नहीं। यदि यह गुटवन्दी का सूचक हो तो अवश्य वुरा है। गाधीवाद का साधारण अर्थ व्यक्ति तथा समाज के हित का वह दर्शन एव विज्ञान है जिसके प्रधान पुरस्कर्ता और प्रयोगकर्ता गाधीजी है।

मेरी इच्छा है कि देश में गाधीजी के विचार, तथा युद्ध नीति का गम्भीर अध्ययन करनेवाले छोटे-छोटे मण्डलो की स्थापना हो। इस दिशा में यह एक सकेत मात्र है।

पू० राजेन्द्र वावू की मुझ पर सहज ही कृपा है। उन्होने कृपा करके, एक तरफ वीमारी और दूसरी तरफ कामो के वोझ—इन दो चक्कियो में पिसते हुए भी समय निकालकर भूमिका लिख दी है। उनके प्रति शाब्दिक आभार-प्रदर्शन करके मैं अपने हृदय से उन भावो को वाहर नहीं करना चाहूंगा जो उनके प्रति वहां मौजूद है।

आदरणीय काका साहब तथा अन्य मित्रो का भी मै आभारी हूँ जिन्होने प्राक्कथन लिखने तथा सम्मतियाँ देने की कृपा की है।

हरिजन कालोनी,
दिल्ली।
१४-२-२९

श्री रामनाथ 'सुमन'

भूमिका

महात्मा गाधीजी ने अपने विचारो को, वीज रूप मे, 'हिन्द-स्वराज्य' मे आज से ३० वरस पहले लिख छोडा था। उस दिन से आज तक उन्होने उन मूल सिद्धान्तो के आधार पर ही दक्षिण अफीका और भारतवर्ष मे अपने राजनीतिक और सामाजिक आन्दोलन को चलाया है। जव १९१५ ई० में वह भारत लौटे, उनके सम्वन्ध मे भारतीयो को कुछ दक्षिण अफीका के सत्याग्रह के कारण ज्ञान तो था पर वह वहुत ही थोडा था और उनके सिद्धान्तो को, उस समय, शायद ही किसी ने समझा हो। उस समय से आज तक उन्होंने निरन्तर इस वात का प्रयत्न किया है कि जनता उन सिद्धान्तो को केवल वौद्धिक रूप मे समझे ही नही पर उनपर अमल भी करे और वैयक्तिक तथा सामाजिक और सामूहिक जीवन मे उन्हे कार्यान्वित करे। उन सिद्धान्तो का मूल सत्य और अहिंसा है या यो कहिए कि अन्तिम विश्लेषण में सत्य ही है। उसी को जीवन के सामने आने वाली प्रत्येक समस्या के हल करने में उन्होने अपनी कुजी और कसौटी वना रखा है। कुजी वह इस प्रकार से है कि उसीसे सव का हल निकलता है और कसौटी इसलिए कि कोई भी हल कितना ही सुन्दर क्यो न हो, यदि वह इस कसौटी पर कसने के वाद खरा न निकला तो वह (हल) निकम्मा है।

गाधीजी ने अपने विचारो को लेखो और व्याख्यानो द्वारा ससार को वताया है। उससे भी अधिक अपने जीवन मे उनका ज्वलन्त उदाहरण उपस्थित करके ससार को चकित कर दिया है।

पू० गाधीजी के विचार सर्व-व्यापी है। जीवन के किसी भी अग वा अग को वे अछूता नही छोडते। समाज के सुधार के लिए, व्यक्ति के उद्धार के लिये, वे समान रूप से उपयोगी होते है। भारतवर्ष जैसे एक

महाद्वीप को राजनीतिक दासता से निकालने मे वे उतने ही कारगर साबित होते है जितना घर के एक रोते हुए छोटे बच्चे को शात करने मे। जीवन के जिस अश को लीजिए, उसकी समस्याओ पर गाधीजी ने कुछ-न-कुछ रोशनी डाली है—कुछ-न-कुछ बतलाया है। गाधीजी से एक समय किसी ने कहा था कि आप अपने विचारो को एक पुस्तक रूप मे लिख डाले ताकि दूसरो को उनके अध्ययन में सुविधा हो। अन्य विचारको और परिवर्तको ने पुस्तको मे विचारो के लेखबद्ध करके आने वाली पीढियो के लिए सुविधा कर दी है। उन पुस्तको द्वारा उन विचारो का प्रचार हुआ है और ससार ने उनके चले जाने के बाद भी, अध्ययन द्वारा उनसे लाभ उठाया है और कही-कही उन्हे कार्यान्वित भी किया है। गाधीजी ने उत्तर दिया कि उनका मास्तिष्क इस प्रकार से काम नही करता। जैसे-जैसे प्रश्न सामने आते गये है उनको हल करने मे काम मे लाकर ही उन्होने अपन सिद्धान्तो को जाँचा है और जैसे-जैसे नये-नये प्रश्न सामने आते है—नयी स्थिति उपस्थित होती है—उन सिद्धान्तो के माप से तौलकर वह उत्तर निकालते है और कार्यक्रम निश्चित करते है। इसलिए केवल पुस्तकीय ज्ञान के रूप मे वह कुछ लिख छोडने मे असमर्थ है तथापि जो लोग उनके लेखो को पढा करते है, उनके भाषणो को सुना करते है, वे जानते है कि उनका कार्यक्रम कुछ क्षणिक परिस्थिति के आधार पर निर्मित नही होता है और छोटे-से-छोटे काम में भी वह सिद्धात उसी रूप से पिरोया होता है जैसे माला की मणियो के भीतर सूत।

गाधीजी ने जितना लिखा है उतना बहुत कम लोगो ने लिखा होगा प्राय २०-२५ बरसो से प्रति सप्ताह कुछ-न-कुछ नया वह बराबर लिखते ही आ रहे है। अगर वह एक पुस्तक रूप में अपने विचारो को लिख देने मे असमर्थता बताते है तो इसका यह अर्थ नही है कि उनके विचारो को इस प्रकार पुस्तकाकार एकत्र नही किया जा सकता। उन्होने सभी प्रश्नो पर

कुछ-न-कुछ लिखा है। कभी-कभी किसी एक विषय को लेकर प्रचारार्थ बहुत दिनो तक बहुत कुछ लिखते रहे है। उस विषय की बहुत—कुछ छान-बीन लेखो और टिप्पणियो द्वारा की गई है। किसी-किसी विषय पर केवल सूत्र रूप मे ही उन्होने कही-न-कही कुछ लिख या कह छोडा है। अगर वह स्वय पुस्तक रूप मे विषय-क्रम से अपने विचारो को इकट्ठा करना पसन्द नही करते तो यह दूसरो का काम है कि वे उनके लेखो के आधार पर ऐसी पुस्तक तैयार कर देवे।

मैंने अनुभव किया है कि गाधीजी के विचार साप्ताहिक पत्रो के पन्नो मे बिखरे रहने के कारण जिज्ञासुओ को एकत्र उपलब्ध नहीं होते और बहुतेरे लोग इतना कष्ट नही उठाना चाहते कि साप्ताहिको के पुराने पन्नो को उलट कर किसी विषय पर उनके विचारो की जानकारी हासिल करे। दूसरे विचारको के विचार छोटी और बडी पुस्तको द्वारा सुलभ है। आज समाजवाद का प्रचार जोरो से हो रहा है। उसका एक बहुत बडा कारण यह है कि वह आसानी से लोगो को एकत्र पुस्तकाकार—छोटी-बडी पुस्तको के रूप मे—मिल जाता है। प्रारम्भिक पुस्तके, जिनमे केवल सूत्र रूप मे बाते बता दी गई है वैसे ही मिल सकती है जैसे उच्च कोटि की गवेषणापूर्ण पुस्तके मिलती है। गाधीजी के विचार इस प्रकार सहज मे उपलब्ध नही होते। अगर किसी से पूछा जाय कि समाजवाद के सम्बन्ध में मैं कुछ जानना चाहता हू, आप कुछ पुस्तको के नाम बताइए तो जो कुछ भी उस विषय का ज्ञान रखता है वह अविलम्ब ऐसी पुस्तको की फेहरिस्त दे देगा जिनको आप आसानी से पा सकते है। और वे प्राय सभी भाषाओ मे है। इसी प्रकार गाधी तत्त्व के सम्बन्ध में आप जानना चाहे तो आपको बहुत थोडे ही ग्रन्थो के नाम मिलेगे और वे भी पूर्ण नही होगे क्योकि किसी एक स्थान मे सभी विषयो का वैज्ञानिक रूप से विचार करके कोई ग्रन्थ नही लिखा गया है। जो ग्रन्थ है वे एकागी

है—किसी एक विषय को लेकर ही लिखे गये है। पर ऐसा होते हुए भी यह कहना ठीक नही होगा कि गाधीजी के सिद्धान्त सर्वव्यापी नही है।

गाधीजी के लेखो मे तो ससार की, और विशेषकर के भारतवर्ष की, सभी समस्याओ पर गभीर विचार किया गया है। खेतो मे बन्दर फसल बरबाद करते है, शहर मे कुत्ते लोगो को कष्ट पहुँचाते है, यह कैसे रोका जा सकता है। अगर इन तुच्छ विषयो पर विचार किया गया है और गभीरता-पूर्वक सिद्धान्त को सामने रखते हुए विचार किया गया है तो ससार की बडी-से-बडी जटिल समस्याओ पर, भारतवर्ष की आज़ादी प्राप्त करने और गरीबी दूर करने के मसले पर भी उसी गहराई और दूरन्देशी से सोचा गया है। अगर हम केवल उन विषयो का दिग्दर्शन मात्र कर देवे जिन पर उन्होने लिखा है तो मालूम हो जायगा कि उन्होने किसी विषय को अछूता नही छोडा है। सभी विषयो पर उनको कुछ-न-कुछ कहना है और वह जो कहते है वह अनोखा है, सैद्धान्तिक कसौटी पर कसा हुआ है और समाज और ससार के लिए हितकर है। सब कुछ विचार करने के बाद सुलभ-साध्य भी है। जो जितना गहरा उतरना चाहता है उसके लिए उतने गहरे जाने की जगह है और जो श्रद्धा-पूर्वक थोडे मे ही बात मान लेने को तैयार है उसके लिए सीधा-सादा नुस्खा भी है। आज इस बात की ज़रूरत है कि उनके विचार लोगो के सामने मनोरजक और गभीर दोनो प्रकार की भाषा मे आते रहे और अगर हो सके तो छात्रो के लिए जिस तरह पाठ्य पुस्तके लिखी जाती है उस तरह पाठ्य पुस्तक के रूप में भी उपस्थित किये जायँ। हम इस बात को मानते है कि अगर विचारो मे सत्य की मात्रा है और वही उनके जीवन का आधार बन सकता है तो अगर वे तितर-बितर भी रहेगे तो ससार से उठ जानेवाले नही है। और अगर उनमे सत्य नही है, तत्त्व नही है तो सुन्दर-से-सुन्दर जामा पहनाकर भी उनको कोई दीर्घजीवी

नही बना सकता। गाधीजी के विचारो मे वह सच्चा जीवन है जो उनको अमर बनाकर रक्खेगा। तो भी उनका प्रचार तो लोगो मे होना ही चाहिए और आज जो साधन उपलब्ध है उनका उपयोग न करना भी चतुराई या बुद्धिमानी नही है। इसलिए उनको सहज और सुगम रीति से उपलब्ध बनाना हमारा कर्तव्य है। इस ओर कुछ लोगो का ध्यान भी अब जा रहा है।

श्री रामनाथ 'सुमन' जी हिन्दी के एक प्रौढ और विचारशील लेखक है। गाधीजी के विचारो का इन्होने गम्भीरता-पूर्वक अध्ययन किया है। उनके अनुसार अपने जीवन को भी गढने का प्रयत्न किया है। इनके लेख सुन्दर और मनोग्राही होते है। विचारो को लेखबद्ध करके यह हिन्दी साहित्य के महत्त्वपूर्ण अग की पूर्ति करने का प्रयत्न कर रहे है। मै आशा करता हूँ कि गाधीजी के विचारो और सिद्धान्तो को जनता मे पहुँचाने मे यह समर्थ होगे। और जो लोग उनसे वैज्ञानिक और शास्त्रीय परिचय करना चाहते है उनके लिए सुमनजी के लेखो मे काफी सहायता मिलेगी।

हरिजन कालोनी, दिल्ली
कार्तिक वदी ४—१९९५

—राजेन्द्रप्रसाद

प्राक्कथन

गाधीजी के विचार और गाधीजी का कार्यक्रम जीवन के हर एक पहलू को स्पर्श करते है। समाजवाद, साम्यवाद, पूँजीवाद, साम्राज्यवाद आदि नये वादो के साथ गाधीजी के विचार और कार्यक्रम को भी अब लोग गाधीवाद कहने लगे है। स्वय गाधीजी ने अनेक बार साफ इन्कार कर दिया है कि मैं कोई नया सिद्धान्त लेकर आया नही हू। हमारे देश में प्राचीन काल से जो सस्कृति चली आई है उसी का सशुद्ध और परिवर्द्धित स्वरूप जनता में फैला में देखना चाहता हूँ। जो चीज़ हमारे पास परम्परा से आई है और जो कल तक जीवित थी उसीको मैं फिर से सजीवन करना चाहता हूँ। जो सिद्धान्त व्यक्तिगत जीवन मे और कौटुम्बिक जीवन मे पाले जाते है उन्ही का व्यवहार राष्ट्रीय और अन्त-र्राष्ट्रीय जीवन मे भी किया जाय और उसीमे हमारा श्रेय है, यही मैं कहता आया हूँ।

गाधीजी का कथन पूर्णतया सत्य होते हुए भी उसमें ऐसी कुछ एक नई चीज़ है जिसका हमे, उन्ही के पास से नया दर्शन हुआ है। उन्होने भले ही ये सब बाते हिन्दुस्तान की आबोहवा में से और हिन्दुस्तान की सभ्यता से प्राप्त की हो किन्तु हमने तो गाधीजी के पास से ही ये चीजे ली है। इसलिए हम उसे वाद न कहकर दर्शन ही कहेगे। गाधीमत या गाधी-दर्शन के लिए दूसरा कोई लाक्षणिक नाम हम दे सकते तो शायद अच्छा होता। किन्तु गाधीजी की दी हुई दृष्टि इतनी भेदक और सर्वव्यापी है कि उसे गाधी-दर्शन कहने मे ही उसका सच्चा बोध होगा।

गाधीमत का प्रचार मुख्यतया गाधीजी के व्याख्यान, लेखन, सभाषण और पत्र-व्यवहार के द्वारा ही हुआ है। इससे भी अधिक उनके प्रत्यक्ष कार्य-द्वारा। देश मे जो हजारो देश-सेवको का एक नया वर्ग पैदा हुआ

है उसने अपनी शक्ति के अनुसार गाधीमत के प्रचार के लिए कम मेहनत नही की है किन्तु अक्सर पाया गया है कि उसके द्वारा गाधीमत का जितना प्रचार हुआ है उतनी उसकी शुद्धि नही सँभाली गई है। और अब तो देश मे और भी अनेक वाद और मत पैदा हुए है। अखबार वाले तो सामान्यतया मतनिष्ठा की अपेक्षा लोकनिष्ठा की तरफ ही अधिक ध्यान देते है। जिस समय जिस मत का बोलबाला हो, उसीकी प्रतिध्वनि खीचते रहना यही सामान्य दैनिक, साप्ताहिक, मासिक आदि नियत-कालिको का रूढ धर्म है। हमारा वृत्त-विवेचन इससे आगे बढा नही है।

स्वय गाधीजी कहते है कि मेरे विचारो का विस्तार पूरा-पूरा मै स्वय भी नही जानता हूँ। जीवन मे मेरे सत्य के प्रयोग नित्य नये-नये चलते ही रहते है और सत्यनारायण का नया-नया दर्शन मै करता ही जाता हूँ। गाधी-दर्शन अभी पूर्ण रूप मे प्रकट नही हुआ है और इसीलिए उसका विकास भी अभी तक कुण्ठित नही हुआ है।

एक बात स्पष्ट है। केवल तर्कबुद्धि से अथवा बौद्धिक विलास से गाधीमत को सम्पूर्णतया कोई नही समझ सकता। गाधीमत कोई तार्किक मत-विस्तार नही है। वह एक जीवन-दर्शन है। बहुरूपी जीवन मे जैसे एक ही आत्मा अनुस्युत—पिरोया हुआ—रहता है उसी तरह मे गाधीजी के दर्शन मे सत्य—अहिसा की तपस्या सर्वत्र विराजमान है। इनके साधन बिना गाधी सिद्धान्त को सामान्य मनुष्य केवल बौद्धिक कसरत मे खोल नही सकता है।

हमारे देश में गाधीजी के सिद्धान्त के अनुसार विचार करने वाले, कार्य करनेवाले और लिखनेवाले थोडे लोग है। लेकिन किसी ने भी गाधीमत की सशास्त्र चर्चा सागोपाग नही की है। किन्तु जब परदेश की तरफ देखते है तो दिखाई पडता है कि वहाँ के जागरूक विद्वानो ने, वृत्त-विवेचको ने, और समाजशास्त्रियो ने गाधीतत्त्व की चर्चा बडे उत्साह से

शुरु कर दी है। गाधीमत—मीमासा हमारी देशी भाषा मे जितनी मिल सकती है उससे भी अधिक अग्रेजी मे मिल सकती है, यह आश्चर्य की, दु:ख की, उद्वेग की बात है।

श्री रामनाथजी 'सुमन' का यह लेख-सग्रह मै पूरा नही पढ पाया हूँ। जो थोडा-सा पढ गया, या सच कहूँ तो सुन गया हूँ, वह मुझे अच्छा लगा। जबतक गाधीजी स्वय किसी चीज़ को पढकर अपनी मान्यता उसे न दें तब तक गाधीमत की वह प्रमाण—मीमासा है, ऐसा कोई न समझे, यह गाधीजी ने स्वय कह रखा है। यह निबन्ध-सग्रह एक पुस्तक बनाने की दृष्टि से लिखा हुआ नही मालूम पडता। जिनको हमेशा अखबारो के लिए लिखना पडता है उनकी भाषा मे एक अखबारी शैली आ जाती है जिसे अग्रेज़ी मे 'जर्नलीज़' कहते है। इस सग्रह के निबन्धो की शैली 'जर्नलीज़' होने के कारण पाठको को थोडा धीरज रखना पडेगा किन्तु समझने मे उतनी ही आसानी होगी। पाठक इसे प्रमाण—भूत विवेचन न समझकर अपनी तरफ से स्वतत्र विचार करने के लिए प्रेरक और उद्बोधक प्रेरणा के साधन के तौर पर ही इसे देखे और जहाँ-जहाँ शका या मत-भेद दीख पडे वहाँ-वहाँ अपनी जाग्रति कायम रखकर विचार करे और अधिकारी पुरुषो मे विचार-विनिमय करे।

गाधीमत की अपनी निजी परिभाषा भी धीरे-धीरे विकसित होने लगी है। उस दृष्टि से भी वाचको को यहाँ जो कुछ सहायता मिल सके, उससे उन्हे लाभ उठाना चाहिए।

दिल्ली
४-१-३८

काका कालेलकर

विषय सूची

गांधीवाद की रूप-रेखा

"जो वात मै करना चाहता हूँ और जो करके मरना चाहता हूँ वह यह है कि सत्य और अहिंसा को सगठित करूँ। अगर वे सब क्षेत्रो के लिए उपयुक्त नही है तो वे झूठ है। मै कहता हूँ कि जीवन की जितनी विभूतियाँ है सब में अहिंसा का उपयोग है।"

—गाधी जी

महात्मा गांधी

और

उनका तत्त्वज्ञान

यह कुछ ऐमा युग ही आ गया है कि इसमें प्रत्येक वात राजनीति की कमौटी पर कसी जाती है। यद्यपि राजनीति ममाजगास्त्र का एक अग-मात्र है, फिर भी राजनीतिक वातावरण इतना घना हो गया है कि हमारी आँखें उसके कोहरे को भेदकर सच्चे और स्थायी प्रकाग तक नही पहुँच पाती। अनित्य और परिवर्तनगील के पीछे किमी महापुरुप का जो एक नित्य प्रकाग होता है, उमके महत्त्व की ओर वहुत ही कम लोगो का ध्यान जा पाता है। महात्मा गाधी के सम्वन्ध में भी यही हुआ है। इसमे सन्देह नही कि क्या पूर्व, क्या पश्चिम मे उनके ऊपर सैकडो पुस्तकें निकली है, अगणित लेख लिखे गये है जिनमें एक ओर उनको वुद्ध और ईसा का समकक्ष वताया गया है तो दूसरी ओर 'एक दुस्साहमी वागी' कहकर उनकी हँमी उडाने की चेष्टा की गई है—चेष्टा इसलिए कि गाँधी की हँमी उडाकर गाधी को अप्रतिभ नहीं किया जा सकता। इन लेखो एव पुस्तको मे शायद ही किमी ने उनके जीवन-तत्त्व को विस्तार के साथ, निष्पक्ष भाव से, समझने-समझाने की चेष्टा की हो। जो कुछ लिखा गया है वह या तो भक्ति के आवेग मे या प्रचार-वृत्ति से, या उत्कण्ठा के कारण। पर उनकी विशालहृदयता, उनकी कठोर तपस्या, उनकी सत्यप्रियता के पीछे जो साधना लगी हुई है, उसकी भावी समाज के निर्माण में क्या शक्ति होगी, उनके जीवन में जो एक तत्त्व-ज्ञान प्रकट हो रहा है उमका हमारी सस्कृति के मगोधन और विकास मे क्या स्थान है, उनकी राजनीतिक सेवाओ के पीछे, इस अनित्य वातावरण के वाहर, मानवता की जो एक आगा, नदी की तरगो पर ऊपर-नीचे होने वाली नाव की तरह, हिलती-डुलती, जीवन की अनेकानेक प्रवृत्तियो

एवं सस्कारो को धक्के देती, डुबाती और उठाती, प्रकट हो रही है उसका निर्देश और विवेचन अभी कहाँ हो पाया है ? विश्वविद्यालयो मे गांधीवाद खोज और गम्भीर विचार का एक अच्छा विषय बन सकता था, पर राजनीति के केवल ऊपरी सतह तक पहुँचने वाली हमारी धुंधली दृष्टि ने उसकी उपेक्षा की। समाज-निर्माण की दृष्टि से, भारतीय संस्कृति की दृष्टि से, व्यापक विश्वसमस्याओ की दृष्टि से, उसका क्या महत्त्व है, उसमे क्या विशेषताएँ है, क्या कमियाँ है, इस ओर से हम बिल्कुल उदासीन है। गांधीवाद का मनुष्यता को जो एक स्थायी दान है, उसका ऊहापोह न करने से उसके अन्दर का सत्य, बाहर के आकर्षणशील चकाचौंध मे डूब-सा गया है।

भारतीय जागरण के ऋषि

भारतीय पुनर्जागरण के इतिहास को जब हम देखते है तो निश्चित रूप से उसके चार ऋषियों की ओर हमारी दृष्टि जाती है। स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ, गांधी और अरविन्द अपने-अपने, पर परस्पर पूरक, क्षेत्र में, अपनी विधि से भारतीय संस्कृति मे जो कुछ सर्वश्रेष्ठ है, उसे कदभ्यास के कोहरे को भेदकर हमारे सामने स्पष्ट और स्पष्टतर करते रहे है और करते रहेगे। विवेकानन्द उसके अग्रज नेता थे, इस महायज्ञ के पुरोहित के रूप मे हम उन्हे देखते है। निद्रा के नशे में अचेत पड़े भारत में उनकी वाणी शखनाद की भाति कर्कश है। कर्कश इसलिए नहीं कि उसमें माधुर्य न था, कर्कश परिस्थिति के कारण। नीद की मीठी खुमारी मे साधारण स्वर भी कर्कश ही मालूम पड़ता है। रवीन्द्रनाथ हमारी चिरसामञ्जस्यमी संस्कृति के वीणाकार है और इस गये-बीते समय मे भी उनकी स्वर-लहरी, हमारे क्षुद्र पिण्ड के अन्दर जो विराट्

सुपुप्त-सा पडा हुआ है उसे, धक्के दिये बिना, हलकी मीठी थपकियो से जगाये हुए है। गाँधी ने क्षेत्र ऐसा चुना कि वह एक आँधी बनकर भारतीय जीवन मे आये और इस झझावात के पीछे शान्त और मौन तपस्या की जो शक्तियाँ छिपी हुई थी उनसे हम उसी तरह घबराकर उठ बैठे जैसे बाहरी आक्रमणकारी का धावा होने पर पडाव मे सोती हुई सेना घबराकर उठ बैठती है या मकान मे आग लग जाने पर शोर-गुल सुनकर लोग शीघ्रता से उठकर इधर-उधर दौडने लगते है। उठने पर हमने एक शक्तिशाली पुरुष को राजनीति के क्षेत्र मे खडा देखा और राजनीति से हमारे पतन का प्रत्यक्ष सम्बन्ध होने के कारण हम उसे एक धर्मपरायण राजनीतिक नेता के रूप मे देखते आ रहे है। बाहर जो एक भारतव्यापी आन्दोलन चल रहा है, हमारी सारी शक्तियाँ उधर ही खिच गई है इसलिए इस महाक्रीडा के पीछे साधक की जो साधना निरन्तर चल रही है, उसे दर्शक भूल जाते है। अरविन्द तो हमारी सस्कृति के मानसरोवर मे खिलकर अपने नाम को सार्थक कर रहे है, पर मानसरोवर का यह नैसर्गिक दिव्य दृश्य साधारणजनो को सुलभ कहाँ? फिर सुलभ भी हो तो उसे ग्रहण करने और पचा जाने की शक्ति ही हममे अभी कहाँ आ पाई है? भारतीय नवजागरण का यह ऋत्विक, इस उथल-पुथल के बीच, शान्त मुद्रा मे ध्यानस्थ है और योग की अगणित सम्भावनाओ को, अपनी साधना के बल से, पाण्डीचेरी के एकान्त मे, जगा रहा है।

राजनीति को प्रकाश देनेवाला महापुरुष

महात्मागाँधी के तत्त्वज्ञान के विवेचन और निर्णय मे एक बडी बाधा इसलिए आती है कि वह न केवल एक जगद्गुरु है वरन् एक ऊँचे राजनीतिज्ञ भी है। जगत् के इतिहास मे दूसरा कोई उदाहरण नही मिलता

जब उनकी कोटि के किसी विचारक और महापुरुष ने सामाजिक घटनाओ के निर्णय मे इतना जबर्दस्त भाग लिया हो। भगवान् कृष्ण ने अवश्य ही, अपने समय मे, प्रत्येक प्रकार के कार्य मे भाग लिया था और अपने समय के वह एक महान् क्रान्तिकारी थे, परन्तु उनके बहुरूपी एव अनेकतामय जीवन मे भी यह पक्ष गौण अत नितान्त साधारण है। इसका कारण यह है कि ससार के इतिहास मे कभी राजनीति को इतना प्रधान स्थान मिला ही न था। आज तो उसने जीवन के सभी अगो को ढक लिया है। जीवन की कोई दिशा ऐसी नही है जिधर कोई व्यक्ति इससे अछूता निकल जाय। शासन-व्यवस्था ने आत्म-चिन्तन एव विशुद्ध धर्माचरण को भी अछूता नही छोडा।* पहले जमाने मे साधक और धर्मोपदेष्टा राजा के द्वारा शासन-सस्था पर प्रभाव डालते और उसका नियमन करते थे। आज राजनीति का विकराल दैत्य पृथ्वी को आत्मसात् करके प्रबल हुकार कर रहा है। गम्भीर विचार, तत्त्वदर्शन एव जीवन के पवित्र सिद्धान्तो की बात सुनकर वह अट्टहास करता है। उसकी सम्मति मे ये सब विनोद

---

*" x x x the time for this intervention has become ripe, for in the world to-day politics has become supremely important and therefore also so errogant as to consider itself above even the bare principles of morality There is need for a teacher, who could teach politics to take its rightful place in the scheme of things " अर्थात् "इसमें हस्तक्षेप का समय आ गया है। क्योकि वर्तमान जगत् में राजनीत ने परम महत्व का पद प्राप्त कर लिया है और इसलिए वह इतनी उद्धत बन गई है कि अपने को नीति के बडे सिद्धान्तो से भी ऊपर समझने लगी है। एक ऐसे आचाय की आवश्यकता है जो राजनीति को ससार और समाज में अपना उचित स्थान ग्रहण करना सिखाये।"

—प्रो० वाडिया

की चीजे है। इसलिए आज ससार के वडे-वडे विचारक बौद्धिक जगत् मे तो पूजे जाते हैं पर व्यवहार-जगत् मे उनका कोई स्थान नही। बर्ट्रेण्ड रसेल, रोम्यारोला और आईनस्टाइन जैसे विचारको के विरोध का शासन-नीतियो पर कोई प्रभाव नही पडता। इसलिए सात्त्विक प्रवृत्तियो के चिरन्तन विजय के लिए आवश्यक था कि राजनीति पर धर्म का, तत्त्वज्ञान का आधिपत्य हो। इतने दिनो के अनुभव से यह सिद्ध हो चुका है कि यदि ससार को राजनीतिज्ञो के ऐन्द्रजालिक करिश्मो का शिकार नही होना है और गम्भीर विचार-विनिमय एव विवेक के मार्ग पर चलना है तो हमारे महान् विचारको को राजनीति का क्षेत्र अपने हाथ मे लेकर उसे पवित्र और सौम्य बनाना चाहिए तथा उसे एक मर्यादा मे लाना चाहिए। यह साधन, जिसने आज इतनी बडी शक्ति एकत्र कर ली है, शीघ्र उन्मत्त हो जाने वाले, विविध वासनाओ के गुलाम, राजनीतिक कुश्तीवाजो के हाथ से निकालना ही होगा और यदि मानव-जीवन के सत्त्व एव सात्त्विक उपादानो की रक्षा करनी है तो, जैसी परिस्थिति है उसमे, इससे बढकर कोई उपाय नही कि राजनीति के ऊपर चढा हुआ ढोग, ईर्ष्या-द्वेष, दभ और स्वार्थ का चोगा उतार दिया जाय। महात्मा-गाँधी इस दिशा मे व्यापक प्रयत्न करनेवाले प्रथम महापुरुष है।

सत्य का साधक

जिन्होने विचारपूर्वक उनके जीवन का अध्ययन किया है वे सहज ही जान सकते है कि उनके तात्त्विक विवेचन मे पूर्व और पश्चिम दोनो शामिल है। इसमे सन्देह नही कि उनमे पूर्व की प्रधानता है, बीज पूर्व का है, उसकी परवरिश भी पूर्व के मालियो—द्वारा ही हुई है, पर खाद मे, उसके ज्ञान—भोज मे पश्चिम का भी एक बडा हिस्सा है। रस्किन

और टालस्टाय दोनो पश्चिम के शुद्ध नीति-शास्त्र, और एक सीमा तक तात्त्विक विवेचन, के प्रतिनिधि है। इन दोनो का गाँधी के निर्माण मे गहरा असर मौजूद है। फिर 'नवीन धर्म-पुस्तक' (न्यूटेस्टामेण्ट) की कितनी ही बाते तो, जिनमे बहुतेरी हिंदू-दर्शन के सिद्धान्त-सूत्रो से मिलती है, उनके जीवन मे ऐसी ओत-प्रोत हो गई है, मानो जन्मजात थी। गाँधी ने सत्य को आदि से अपना लक्ष्य माना और उनका जीवन आरभ से आज तक सत्य की चिर-साधना है। रोम्यारोला के 'ज्याँ क्रिस्तोफ' का नायक जैसे अनेक क्षेत्रो मे गुज़रता है पर जीवन के प्रत्येक रग मे वह एक साधक है, जिसके अन्दर सत्य, प्रत्येक अनुभव के साथ, पनपता और विकास पाता है, उसी प्रकार गाधी के प्रत्येक कार्यक्रम में सत्य की अबाधित साधना निरन्तर चलती रही है और आज भी उसी प्रकार चल रही है। उनके कार्यक्रम बदलते रहे है, उनका क्षेत्र बदलता रहा है, उनके बाह्य आवरण मे उतार-चढाव होते रहे है, पर इन सब के नीचे गाधी की दिशा ज्यो की त्यो—एक ही रही है। सत्य का यह साधक प्रत्येक क्षेत्र मे अपने पथ को लक्ष्य मे रखता रहा है।

जैसा कि सत्य—दर्शन का प्रत्येक आलोक होता है, गाँधी का जीवन—सत्य भी किसी देश या जाति की सीमा मे बँधा नही है। वह स्वय कहते है—"मेरे धर्म मे कोई भौगोलिक बधन नही है।"* जब वह राजनीति के क्षेत्र मे आते है, जब स्वदेश प्रेम का शखनाद उनके शिविर से होता है, तब भी वह उसे मानव-धर्म का एक अग मानकर ही चलते है। उनकी देश-सेवा, मनुष्य—जाति की सेवा से भिन्न नही है, उसी का एक अग है।

*"My religion has no geographical limits"

पूर्व और पश्चिम का मेल

पूर्व और पश्चिम के तत्त्वज्ञान की जो धाराएँ हैं, उनकी प्रवृत्तियों में सूक्ष्म अन्तर है। भारतीयों ने तत्त्वज्ञान को जीवन का उद्देश बनाया और पश्चिम ने उसे जीवन की निष्पक्ष आलोचना के रूप में ग्रहण किया। पहले से आदर्श-प्रधान और दूसरे से व्यवहार-प्रधान जीवन-दृष्टियों का विकास हुआ है। महात्मा गाँधी ने अपनी भावना और अपने तत्त्वज्ञान को सार्वदेशिक रूप देने की दृष्टि से इन दोनों को मिलाया है। यद्यपि उनका जीवन, उनकी भावना, उनके सिद्धान्त आदर्श-प्रधान हैं, पर वे व्यवहार पर चोट नहीं करते वरन् उलटे व्यवहार में प्रकाशित एवं विकसित होते तथा उसको शुद्ध एवं कल्याणमय बनाते हैं। उनका सारा जीवन आदर्श द्वारा व्यवहार को शुद्ध बनाने की साधना में बीता है। उनके तत्त्वज्ञान में व्यवहार और आदर्श दो परस्पर-विरोधी जगत् नहीं हैं, एक में गुँथे हुए हैं। अपने आदर्श को वह प्रत्येक व्यवहार में प्रतिविम्बित देखना चाहते हैं। आदर्श को व्यवहारमय और व्यवहार को आदर्शमय कर डालने की भावना उनके जीवन के प्रति क्षण में चलती रहती है। इसीलिए उनमें ज्ञान, भक्ति और कर्म का अपूर्व सम्मिश्रण है। जहाँ एक ओर उन्होंने अद्भुत साहस के साथ यह कहा कि "यदि प्राचीनतम शास्त्र भी हमारे विवेक को 'अपील' नहीं करेंगे तो मैं उनको भी अमान्य करूँगा* × × × (क्योंकि) कोई वस्तु पौरुषेय है कि अपौरुषेय, यह जानने के लिए आखिर विवेक के अतिरिक्त हमारे पास कौन

---

*" x x x I shall even go to the length of rejecting the divinity of the most ancient *Shashtras*, if they do not appeal to my reason"

पथ-प्रदर्शक है ?"* वहाँ उन्होंने बुद्धि से भी अधिक महत्त्व कर्म और श्रद्धा को दिया है। उनकी सम्मति मे वह बौद्धिक ज्ञान जो सत्कर्म की दिशा मे अग्रसर नही होता, व्यर्थ है। ज्ञान, कर्म और भक्ति के इस अद्भुत सामञ्जस्य ने ही उन्हे सर्वश्रेष्ठ कर्मयोगियो की पक्ति मे लाकर खडा कर दिया है।

नीति के प्रवक्ता

गाँधीजी का सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान नीति-प्रधान है। आत्मानुभव की दृष्टि मे जो सदाचरण आवश्यक है उन्हे ही वह धर्म मानते है और इसीलिए वह नीति और धर्म मे अन्तर नही देखते। अपने 'नीति-धर्म' मे इस पर उन्होंने विस्तार मे विचार किया है। जीवन के प्रत्येक पग पर वह नैतिकता पर ज़ोर देते है। उनका तत्त्वज्ञान ही आध्यात्मिक की अपेक्षा नैतिक अधिक है। उनके जीवन की भावना मे यह स्पष्ट है कि नैतिक उत्थान मे आध्यात्मिक जीवन का आरभ अपने आप हो जाता है इसीलिए अपने सिद्धान्तो मे तात्त्विक दुरूहता और रहस्यमयता लाने की जगह उन्होंने स्पष्ट और सरल नैतिक रूप देकर उन्हे हमारे सामने रखा है। निश्चय ही भारत मे उनसे बडे-बडे ज्ञानी, योगी और आध्यात्मवेत्ता हुए है। आज भी होगे, इसमे भी सदेह करने का कोई कारण नही है। पर जैसा कि प्रो० वाडिया ने 'इण्डियन फिलासफिकल कॉंग्रेस' के अध्यक्ष की हैसियत से भाषण करते हुए कहा था कि 'बुद्ध के बाद शायद कबीर के अतिरिक्त, नीति-धर्म पर इतना ज़ोर देने वाला कोई शिक्षक नही

---

*"x x After all we have no other guide but our reason to tell us what may be regarded as revealed and what may not be"

हुआ'* । महात्मा गाधी का धर्म व्यावहारिक आदर्शवाद पर निर्भर है । सेवा उनके धर्म का साधन है । सार्वदेशिक प्रेम इस सेवा का साध्य है । इसीलिए उनका धर्म ऋषियो और महापुरुषो के लिए नही, सर्व-साधारण के लिए है । बुद्ध की भाति ही उन्होने धर्म को बडे सुलभ रूप मे सर्व-साधारण के सामने रखा है ।

तत्वज्ञान का क्रम

सत्य उनके तत्त्वज्ञान का ध्रुवतारा है । अपनी जीवन-कथा का नाम उन्होने बहुत सोच-समझकर 'सत्य के प्रयोग' रखा है । वह इस बात का दावा नही करते कि 'मैने पूर्ण सत्य को पा लिया है' पर जीवन के प्रत्येक क्षण मे वह उसकी ओर बढने के लिए प्रयत्नशील अवश्य है । अहिंसा को उन्होने इस सत्य की सिद्धि का साधन बनाया है । 'अहिंसा' यो तो देखने मे एक अभावात्मक शब्द है क्योकि वह केवल हिंसा की भावना के अभाव का सूचक है, पर गाँधीजी की अहिसा इस सिद्धान्त पर निर्भर है कि सृष्टि मे जितने भी जीवनमय, प्राणमय या चेतन पदार्थ है सब पवित्र है । यह भाव प्राणि-मात्र से मानव जीवन की अभिन्नता प्रकट करता है । अहिंसा का ही विकसित और परिणत रूप प्रेम है । सच्चे प्रेम बिना सच्ची अहिंसा सभव ही नही है । व्यापक अहिंसा मे वह सब आजाता

*"Some years ago a legend used to be current in Tibet that Second Buddha had been reincarnated in India and was known as Mahatma Gandhi One thing is certain that since the days of Buddha no Indian, with the possible exception of Kabir, has attached so much importance or grown so eloquent over pure morality as Gandhiji"

है, जो उच्च प्रेम मे मभव है। गाधीजी की अहिमा नीति नही, एक अपरिणत मत्य है। इसीलिए केवल जीव को न मारने मे ही उसका अन्त नही हो जाता, उसे किमी प्रकार की शारीरिक या मानसिक पीडा न देना, न देने की भावना करना, तथा उसके कल्याण की कामना एव चेष्टा करना भी, उसी मे आ जाता है। इस भाव की परिणति तब-तक मम्भव नही है, जबतक साधक मे ईर्ष्या-द्वेष, लोभ, भय इत्यादि असात्त्विक भाव भरे हुए है। इसलिए सत्य का माधक जब अहिमा-मार्ग का अवलम्बन करता है तो स्वभावत उसे तमस् का प्रारम्भ में ही त्याग कर देना पडता है। ज्यो-त्यो उसमे उच्च अहिमा का भाव आता है, त्यो-त्यो सत्य का अनुभव अधिक स्पष्ट होता जाता है। इस अनुभूति के साथ रजस् का क्रमश लोप और सत्य का क्रमिक विकास होता है। जब सत् की मात्रा अत्यधिक हो जाती है और तमस् एव रजस् का सर्वथा लोप हो जाता है अथवा उनकी मात्रा नगण्य हो जाती है, तब माधक के अन्दर स्वभावत आध्यात्मिक अनुभूति का जन्म होता है। ज्यो-ज्यो माधक में मत्यानुभव की अधिक शक्ति आती है, त्यो-त्यो उसमे आत्म-दर्शन की क्षमता बढती है। वह जगत् को आत्ममय देखने लगता है। सर्वभूत-हित मे ही विश्वात्मानुभव का बीज छिपा रहता है। परदा हटा नही कि सत्य के दर्शन हुए नही।

धर्म और राजनीति

चूंकि राजनीति का क्षेत्र वर्तमान विश्व में सब से क्रियाशील एव प्रभावशाली बन गया है इसलिए अहिमा का प्रयोग उन्होने इसी क्षेत्र में आरभ किया। यह क्षेत्र इतना दूपित हो गया था, और आज भी है, कि प्राय उच्च कोटि के विचारक तथा धर्मिष्ठजन इससे दूर ही रहते है।

राजनीति के साथ धूर्त्तता का भाव मिल-सा गया है। लोकमान्य ने तो कहा ही था—"राजनीति साधुओ के लिए नही है।" यह विचार हजारो और लाखो का है। लोग इस क्षेत्र की गदगी के कारण इसमे आते हुए डरते है। गाधीजी ने देखा कि समाज के एक दल ने स्वार्थ-साधन के लिए अपने हाथ मे इसे एक प्रबल अस्त्र बना रखा है। मानव-समाज मे वर्त्तमान शासनतत्र इतना जटिल हो गया है कि इसके सशोधन के बिना जीवन का सत्त्व सामूहिक रूप मे पनप ही नही सकता। इसीलिए उन्होने ऊँचे स्वर से कहा—"जो यह कहता है कि धर्म का राजनीति से कोई सम्बन्ध नही है, धर्म को जानता नही।" इसलिए अपने साधन—अहिसा—का उन्होने भारतीय स्वाधीनता-प्राप्ति के क्षेत्र मे इतना व्यापक प्रयोग किया और कर रहे है।

निस्सन्देह गाधीजी ने कोई नया सिद्धान्त या तत्त्व ससार के सामने नही रखा। उनके सिद्धान्त बहुत प्राचीन काल मे चले आ रहे है। परन्तु ससार के इतिहास में यह प्रयोग पहली बार गाधीजी ने ही किया कि अहिसा का सार्वदेशिक प्रयोग युद्ध के अस्त्र की भाति, सफलतापूर्वक, किस प्रकार किया जा सकता है। अहिसा प्रेम का अस्त्र है और इसके प्रयोग मे न केवल हम विरोधी को उसकी शारीरिक हानि होने से बचाते है वरन् अपने भीतर से भय के उस मूल को भी धीरे-धीरे दूर करते है जिसका प्रतीक अस्त्र-शस्त्र है। अहिसा के इस अस्त्र से लडते समय आत्म-विश्वास का जन्म होता है तथा बाहरी अर्थ-साध्य साधनो की बहुत कम आवश्यकता पडती है। स्पिनोजा ने ठीक ही लिखा है—

'जो व्यक्ति अत्याचार के साथ प्रेम से युद्ध करना चाहता है वह आनन्द और विश्वासपूर्वक लडता है, वह अनेक का प्रतिरोध उसी आसानी से करता है जिस प्रकार एक-का, और उसे अर्थ की बहुत कम आवश्यकता

रहती है। जिन्हे वह परास्त करता है वे प्रसन्नता से आत्म-समर्पण करते है—असफलता के कारण नही, बल्कि अपनी शक्ति की वृद्धि के कारण।'*

इस तरह अहिसा या प्रेम का अस्त्र की भाति प्रयोग करने पर सबसे बडा लाभ तो यही होता है कि प्रयोगकर्त्ता की शक्ति बढती है, क्योकि यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि प्रेम के प्रयोग मे सबसे अधिक कार्य-शक्ति एव अन्त स्फूर्ति की आवश्यकता होती है। इसमे जीवन-प्रकाशन की स्वयसिद्ध चेष्टा अन्तर्हित है। अस्त्ररूप मे इसका प्रयोग करने से हम जीवन की अगणित प्रकाश-रश्मियो को न केवल शून्य मे निमग्न होने से बचाते है वरन् उनको विकसित और परिमार्जित होने का मौका देते है।

इस प्रकार सत्य और अहिसा—दोनो सामान्य और सर्वश्रुत शब्दो को गाधीजी ने अपने जीवन मे विशेष साधन और विशेष अर्थ मे लिया है। वह स्वय कहते है कि जो सत्य है वही परमेश्वर है। इस सत्य का प्रयोग उनकी दृष्टि से, प्रत्येक क्षेत्र मे किया जा सकता है, क्योकि वह सार्वदेशिक है और उसके बिना किसी चीज की सत्ता नही। वह मानव-जीवन को विकास की अधिक से अधिक सुविधा देते है। पर इस स्थान पर भी सत्य के साथ अहिसा मिली रहने के कारण, एक आदमी जहाँ आत्म-विकास की सुविधाये पाने का अधिकारी है वहाँ उसे दूसरे के (आत्म) विकास के लिए भी सुविधाओ का खयाल रखना पडता है।

---

*"He who chooses to avenge wrong with hatred is assuredly wretched But he who strives to conquer hatred with love fights his battle in joy and confidence, he withstands many as easily as one, and has very little need of fortune's aid Those whom he vanquishes yield joyfully, not through failure, but through increase in their power"

वह मानते है कि विना इस दृष्टि के कुछ व्यक्तियो के विकास का दरवाजा तो खुला रहता है, पर ऐसी सार्वदेशिक परिस्थिति पैदा हो जाती है जिसमे सामूहिक रूप से मनुष्य का विकास रुक जाता है और अन्त मे इसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति और समष्टि दोनो सच्चे विकास एव सुख की सुविवा से वचित रह जाते है।

दो विचारधाराओं का सामञ्जस्य

इस तरह उन्होने आजतक प्रचलित तत्त्वज्ञान की दो दृष्टियो मे सामञ्जस्य लाने की कोशिश की है। व्यक्ति के आत्म-विकास पर जोर देते हुए समाज के व्यक्तित्व को विकसित करने की चेष्टा करने में ही स्थायी कल्याण है। आत्म-शोधन और समाज-सेवा दोनो को उन्होने मिला दिया है। इनमे जो विरोध प्रतीत होता है उसे स्वय अपने जीवन की साधना से उन्होने दूर करने की कोशिश की है। यद्यपि वह स्वय मानते है कि सच्ची एव परिणत अहिसा और सत्य मे कोई भेद नही, फिर भी सत्य के साथ अहिसा को जो उन्होने लगा रक्खा है, उसका यही कारण है। तत्त्वदर्शन की अन्तिम अवस्था में यह भेद मिट जाता है, पर जबतक सर्वात्मदर्शन की वह अवस्था साधक के अन्दर नही आ पाई है तबतक अहिसा पर, जिसकी परिणति सर्वभूत-हित मे जाकर होती है, जोर देना जरूरी है अन्यथा भ्रम एव प्रमाद-वश, तथा सत्य के सम्बन्ध में दो दृष्टि होने के कारण, आत्म-विकास व्यक्ति तक ही सीमिति रह जाता है और अन्त मे एकागी हो जाने के कारण, अन्य लोगो, और इस तरह समष्टि, के विकास मे वाधक होने लगता है। व्यक्ति-परिणत सत्य कभी-कभी ससार के विकास को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगता है। इसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार तो कर लेता है

पर उनके ज्ञान का, उनकी व्यापक दृष्टि का, उनके आत्मानुभव का दूसरो के लिए, ससार के लिए, प्रत्यक्ष रूप से कोई उपयोग नही हो पाता। 'प्रत्यक्ष रूप से' हम इसलिए कह रहे है कि अप्रत्यक्ष रूप से तो वह ससार को उठाता ही है, क्योंकि व्यापक दृष्टि से देखें तो सारा ससार उसके आत्मानुभव से भिन्न नही है—उसीमें आ जाता है। पर उतनी ही शक्ति से, दूसरो के जीवन में जो प्रत्यक्ष प्रेरणा मिलनी चाहिए, वह नही मिलती। फिर इसमे एक कठिनाई और भी आती है। वह यह कि इसमे पूर्ण आत्मज्ञान की अवस्था मे ही साधक सर्वभूतहित भाव का अनुभव कर सकता है और दूसरे मे प्रारम्भ से ही उसे दोनो का समुचित समन्वय और सामञ्जस्य करके चलना पडता है। इसलिए ज्यो-ज्यो सत्य का आलोक उसके हृदय में आता है त्यो-त्यो क्रमश कुटुम्ब-प्रेम, प्रात-प्रेम, देश-प्रेम और विश्व-प्रेम अपने-आप विकसित होते जाते है। हाँ, इसमे सतत जागरूक तो रहना ही पडता है क्योकि मन की प्रवृत्तियाँ इतनी प्रबल है और मनुष्य इतना रूढि-प्रिय हो गया है कि वह एक ही क्षेत्र में फँसकर रह जाता है। उसे आगे चलना है, यह वह भुला देता है। फलत जो देश-प्रेम, विश्वप्रेम का एक सेवक अग होना चाहिए वह उसी मे बाधक होने लगता है। इसलिए अपने लक्ष्य की ओर तो साधक को सदा ध्यान रखना ही चाहिए।

लक्ष्य के विषय में प्रमाद न हो इसीलिए महात्माजी ने जहाँ सत्य को लक्ष्य बनाया और अहिंसा को उसका साधन करार दिया, वहाँ साधक की पवित्रता की रक्षा और प्रलोभनो से उसे बचाने के लिए कुछ और शर्तें भी लगा दी है। इनमें अपरिग्रह मुख्य है। उनकी 'फिलासफी' में सामाजिक दृष्टि से इसका बडा महत्त्व है। जितनी चीज़ो की जीवन-विकास के लिए अनिवार्य आवश्यकता हो, जितनी चीजो के बिना किसी

की जीवन-यात्रा चल ही न सके, उतनी ही चीजे ग्रहण करने का उसे अधिकार है। इसलिए अपरिग्रही देश-सेवक के लिए यह डर नहीं है कि वह देश-प्रेम के उन्माद मे विश्व को भुला देगा या अपने देश की भौतिक उन्नति के लिए किसी दूसरे देश, या ससार, की बलि दे देगा। फिर इस अपरिग्रह के पहरेदार रूप मे उन्होने अस्तेय और अस्वाद को लगा दिया है। शुद्ध अपरिग्रह मे ये दोनो बाते अपने आप आ जाती हैं। पर जोर देने के ख्याल से इन्हे उन्होने अलग रक्खा है। व्यक्तिगत साधना के लिए ब्रह्मचर्य भी एक बहुत आवश्यक और महत्त्वपूर्ण शर्त्त है। उनका अस्वाद उनके ब्रह्मचर्य मे भी आ जाता है। राजनीतिक या राष्ट्रीय प्रमाद की भाति धार्मिक प्रमाद या असहिष्णुता से भी अक्सर साधक का ज्ञान धुँधला हो जाता है और उसे दिशा-भ्रम होजाता है। इसलिए सब धर्मो के प्रति सम-भाव रखने को भी वह साधको के लिए आवश्यक बताते है। इस प्रकार सत्य के लिए अहिंसा, अहिंसा के लिए अपरिग्रह, अपरि-ग्रह के लिए ब्रह्मचर्य, ब्रह्मचर्य के लिए अस्वाद, अस्वाद के लिए अस्तेय आवश्यक है और गाँधीजी का नीतिशास्त्र या तत्त्वज्ञान इन सिद्धान्तो पर ही आश्रित है।

२

महात्मा गांधी

और

धर्मतन्त्र

'धर्मस्य तत्त्व निहित गुहाया'—धर्म का तत्त्व गूढ है, यह भावना बहुत प्राचीन काल से चली आई है। वस्तुत धर्म शब्द का व्यवहार इतने व्यापक सिद्धान्तो एव तत्त्व-प्रदर्शक दृष्टियो के लिए होता रहा है कि आज उसे एक निश्चित मर्यादा में बाँधना कठिन होगया है। ससार मे धर्मो की विविधता देखकर जीवन-मार्ग मे पाँव रखते ही यात्री को दिशा-भ्रम होने लगता है। सामान्यत प्रचलित धर्मों को सम्प्रदाय कहकर यदि हम अलग कर दे, तो भी श्रेष्ठ तत्त्व-ज्ञानियो एव धर्म-विचारको मे मत-भेद इतना अधिक और इतने अधिक प्रकार का है कि साधारण मनुष्य तो वहाँ पहुँचते ही घबडा जाता है। एक स्थान से भिन्न-भिन्न दिशाओं मे इतने मार्ग जाते हैं और उन सबकी अपनी-अपनी कुछ ऐसी विशेषताएँ होती है कि हम मोहाभिभूत और विमूढ होजाते है। जैसे एक साधारण ग्राहक एक बडे नगर की सजी-सजाई दुकान मे जाकर जरूरत की चीज को कई मनोहर रूपो मे देखकर दुविधा मे पड जाता है कि क्या ले और क्या न ले, वैसी ही दशा धर्म-मार्ग मे प्रवेश करने पर धर्मार्थी की होती है और अत मे घबडाकर आदमी कुल-धर्म अथवा किसी अन्य सम्प्रदाय के आगे माथा टेक देता है।

सच तो यह है कि राजनीति की तरह धर्म को भी हमने बडा जटिल और गहन बना दिया है। शताब्दियो के बीच नाना प्रकार के स्वार्थ हमने धर्म के साथ इस तरह मिला दिये है जैसे पत्थर पर काई जम जाती है और हमारे पाँव को स्थिर रहने देना नही चाहती। साधारण आदमी के लिए धर्म भी एक बोझीला और स्खलनशील पदार्थ बन गया है या यो कहे कि बना दिया गया है। शुद्ध नीति मे हठधर्मी, साम्प्रदायिक स्वार्थ,

अविवेक और गोपनीयता का ऐसा मिश्रण हो गया है कि चर्बी मिले घी की तरह वह हमारे बौद्धिक एव नैतिक स्वास्थ्य के लिए वडा हनिकर हो रहा है और इस कठिनाई से वचाने के लिए किसी रासायनिक धर्म-विचारक की जरूरत है जो साधारण आदमी के सामने निकालकर रख दे कि इतना तो शुद्ध धर्म है और इतनी उसमे मिलावट है ।

वर्तमान समय मे विवेकानन्द ओर महात्मा गाँधी ने धर्म को सरल रूप मे सर्व-साधारण के सामने रखने की चेष्टा की है। वैसे धार्मिक सामञ्जस्य का सवसे ज्यादा काम तो स्वामी रामतीर्थ ने किया पर उनका विवेचन शुद्ध आध्यात्मिक और अत्यन्त निर्मल साधक के लिए है। उनका अध्यात्म वोलना-हँसता-गाता ओर नाचता हुआ आत्मानुभव है—वह मधुर जीवन की तरह जीवनमय है पर थोडी साधना के वाद, थोडी प्रगति कर चुकने पर ही हम उमे ठीक-ठीक ग्रहण कर सकते है। विवेकानन्द भारतीय तत्त्वज्ञान को वैज्ञानिक रूप मे विश्व के सामने रखने वाले आधुनिक युग के प्रथम भारतीय थे । किन्तु उनका पाण्डित्य, उनकी तत्त्व-पिपासा, उनकी दार्शनिक प्रखरता इतनी उच्चकोटि की थी कि चेष्टा करने पर भी वह पूर्ण रूप से धर्म को सरल न वना सके। फिर उनका समागम औसत वुद्धि के भारतीयो से वहुत कम होता था। गाँधीजी को सर्वसाधारण से काम लेना था, इसलिए उन्होने धर्म-तत्त्व को सरल-से-सरल रूप देने की चेष्टा की है। उन्होने उसमे से इतना सार ले लिया है, जिसका व्यावहारिक प्रयोग करके मनुष्य स्वय ऊँचे तात्त्विक जीवन के आनन्द का अनुभव कर सकता है।

हमारी भाषा मे, ओर व्यावहारिक दुनिया मे, वस्तुत, धर्म नीति से पृथक होगया है। जव हम कहते है कि अमुक आदमी धार्मिक है, तव उसका तात्पर्य यह नही होता कि उसका पर्याप्त मानसिक विकास हो

चुका है। उसका मतलब यही होना है कि वह नियमित रूप से सन्ध्या करता है या नमाज पढता है, धर्म-ग्रन्थो का पाठ करता है। फिर चाहे उसका हृदय क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या-द्वेष का आकर ही क्यो न हो ? गाँधी जी ने इस युग मे बडे जोरो से इस भावना पर प्रहार किया है। जिस वस्तु को उनकी अन्तरात्मा न स्वीकार करे या जिससे अन्तरात्मा को स्फूर्ति न मिले, उसे वह मानने को तैयार नही। कुछ ही दिन पहले 'शास्त्र' का अर्थ करते हुए उन्होने कहा था—'कोई ऐसी बात जो नीति के सर्वमान्य प्रारम्भिक सिद्धान्तो के विरुद्ध हो, मेरे लिए शास्त्र की प्रामाणिकता से रहित है। शास्त्र इन प्रारम्भिक सिद्धान्तो को कुचलने के लिए नही वरन् उन्हे जीवन देने के लिए है।' धर्म के नाम पर किसी प्रकार का व्यापार या दुराग्रह उन्हे असह्य है। वह स्वय कहते है—"मै धर्म के नाम पर दुराग्रह नही करूँगा और न मै इसके पवित्र नाम पर किसी बुराई का समर्थन कर सकता हूँ। मै यदि किसी को युक्तियो से सन्तुष्ट नही कर सकता, तो वैसे एक भी आदमी को अपने पक्ष मे लाने की इच्छा नही रखता।"

उनका कहना है कि धर्म को समझने के लिए ऊँची शिक्षा प्राप्त करना या बडे-बडे धर्मग्रथो का अध्ययन करना अनिवार्य नही है। वह (गुजराती मे) लिखते है—"धर्म वस्तुत बुद्धिग्राह्य न थी, परन्तु हृदय-ग्राह्य छे। आपणाथी जुदी एवी ए वस्तु न थी, परन्तु ए एवी वस्तु छे के जेने आपणे आपणा पोतामाथीज खीलववानी छे। ते सदा आपणा अन्तरमाज छे। केटलाकोने तेनु भान छे, बीजा केटलाकोने तेण जरापण भान न थी, परन्तु ते तत्व तेओ मा पण छे। धर्म एक व्यक्तिगत सग्रह छे। तेने माणस पोतेज राखी शके छे अने पोतेज खुए छे। समुदाय माज बचावी शकाय ते धर्म न थी, मत छे।" अर्थात् "धर्म वस्तुत बुद्धि-ग्राह्य नही, हृदय-ग्राह्य है। वह हमसे अलग कोई चीज नही। परन्तु वह ऐसी

वस्तु है, जिसे हमें अपने अन्दर में ही विकसित करना है। वह सदा हमारे अन्दर में ही है। कुछ लोगों को उसका भान है, दूसरे कुछ को उसका जरा भी भान नहीं, लेकिन वह तत्त्व उनमें भी है धर्म एक व्यक्तिगत सत्य है। उसे मनुष्य स्वयं ही पा सकता है और स्वयं ही खोता है। समुदाय में ही जिसकी रक्षा की जा सके वह धर्म नहीं, मत है।"

इससे मालूम होता है कि वह धर्म को अन्तर्मुख विकास का रूप मानते हैं। इसलिए उसे बुद्धि और तर्क का विषय नहीं, हृदय का, अनुभव का विषय मानते हैं। धर्म अपने से अलग कोई (बाहरी) चीज नहीं, भीतर की चीज है, ऐसा कहकर वह स्वभावतः धर्म को आत्मतत्त्व का ही उपकरण बताते हैं। इसीलिए जिन व्यापक सिद्धान्तों एवं नियमों से सदाचार का विकास हो, अन्तःसत्त्व को स्फूर्ति मिले, सात्त्विक वृत्तियां जाग्रत हों, काम-क्रोध-मोह-मद-लोभ, इन्द्रियलोलुपता इत्यादि-अन्तःशत्रुओं का विनाश हो, उन्हें वह धर्म मानते हैं। व्यक्ति के अन्दर जो सत्य चिरकाल से छिपा है, इस क्षुद्र परिधि में असीम का जो नर्तन है, उसे दिन-दिन स्पष्ट और प्रत्यक्ष करनेवाली अन्तःप्रेरणा या ज्योति को ही धर्म कहते हैं। धर्म व्यक्ति और परिपूर्ण एवं परिणत सत्य के बीच की कड़ी या सीढ़ी है। यह वह पुल है, जो मनुष्य को पूर्ण सत्य के दर्शन तक ले जाता है। मैं जान-बूझ यहां परमात्मा या ईश्वर के स्थान पर पूर्ण सत्य शब्द का प्रयोग कर रहा हूं, क्योंकि ज्यों-ज्यों गांधीजी साधना-पथ में आगे बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों उनकी दृष्टि से ईश्वर की साकारता अन्तर्धान होती जाती है और निराकारता स्पष्ट होती जाती है। पहले वह कहा करते थे कि 'ईश्वर सत्य है।' अब कहते हैं "सत्य ईश्वर है,' यह कहना अधिक अच्छा होगा।" इससे मालूम होता है कि इस परिवर्तनशील जगत् के भीतर जो एक अपरिवर्तनशील स्थायी सत्ता काम कर रही

है, उसे ही वह ईश्वर मानते है। जिन नियमो पर चलने मे तथा जिन आचार-विचारो का पालन करने मे व्यक्ति इस परिपूर्ण, नित्य सत्य तक पहुँच सकता है, उनकी साधना को ही वह धर्म कहते है। और चूंकि ऐसा सत्य तर्क या बुद्धि का विषय नही है, इसलिए उनके विचार मे धर्म व्यक्ति और परमात्मा या परिपूर्ण सत्य के बीच की व्यक्तिगत साधना है। धर्म वह प्रकाश है, जो व्यक्तिगत है, व्यक्ति के अन्दर उसीसे मिला हुआ है और जिसे समझकर चलने मे वह दीपक की भाति जलकर हमे जीवन के अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचाता है।

उनका यह कथन भी बडे महत्त्व का है कि जब तक वह व्यक्ति के सत्त्व के रूप मे रहता है तभी तक धर्म है, समाज मे आकर वह 'मत' हो जाता है। सामाजिक रूप मे आने पर उसके बाह्य सगठन, बाह्य आकार-प्रकार पर ही ज्यादा जोर दिया जाता है। समाजगत धर्म या 'मत' तो धर्म का शरीर है, वह आकार का, विस्तृति का, क्षेत्रफल का द्योतक है, तात्त्विक प्रकाश का, अन्त स्फूर्ति का, आत्मानुभव का द्योतक नही। समाज-गत धर्म बाह्याचार को, सख्या को, विस्तार को महत्त्व देता है, इसलिए व्यक्ति के हृदय मे चिर-सत्य का जो स्वाभाविक प्रकाश होता है, उसे ही धर्म कहा जा सकता है।

इसका यह तात्पर्य नही कि गाधीजी समाज-धर्म या मत की उपेक्षा करते है। नही, उलटे वह सामाजिक सदाचरण को व्यक्ति के विकास का साधन मानते और इसी रूप मे उसका उपयोग करते है। इसीलिए उनकी दृष्टि में धर्मात्मा वह है जिसकी अन्त वृत्ति ऊँची हो। "जो पुरुष साधु-जीवन व्यतीत करता है, जिसकी वृत्तियाँ सादी है, जो सत्य की मूर्ति है, जो नम्रतामय और सत्यस्वरूप है और जिसने अहता का पूर्ण त्याग कर दिया है, वह स्वय इसे जानें या न जाने पर धर्मात्मा है।"

महात्मा गांधी
और
उनका नीति-धर्म

महात्मा गाँधी जीवन म नीति पर सबसे अधिक जोर देते है। प्रत्येक मनुष्य के लिए यह आवश्यक है। यह उन्नति का प्रथम सोपान और आत्मानुभव का राजमार्ग है। छोटे से छोटे से लेकर बडे-से-बडे तक सब के लिए यह एक निश्चित और विश्वसनीय पथ-प्रदर्शक है। नीति को अपने जीवन मे उन्होने इतनी प्रधानता दी है कि उसे धर्मतत्त्व से मिलाकर एक कर दिया है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो उनका सारा तत्त्वज्ञान—सम्पूर्ण धर्मतत्त्व—नीतिमय है और नीति मे ही बद्धमूल है। इसीलिए उनका तत्त्वज्ञान, आध्यात्मिक की अपेक्षा नैतिक अधिक है। वह जीवन के नैतिक पहलू पर जोर देता है और यह इसलिए कि विना नीति के, न व्यक्तिगत और न सामूहिक रूप से मनुष्य की उन्नति हो सकती है।

भारतीय तत्त्वज्ञान की बारीकियो को जब हम देखते है तो हमे मालूम होता है कि यद्यपि यह जरूरी नही है कि नीति से अध्यात्मवाद को पूर्णरूपेण हम हृदयगम कर ही ले या प्रत्येक नैतिक पुरुष आध्यात्मिक ही हो, पर प्रत्येक अध्यात्मवेत्ता योगी का नैतिक दृष्टि से उच्च होना तो जरूरी है। नीति आध्यात्मिक अनुभव की सीढी है। विना इसके जीवन मे जो ज्ञान, जो पाण्डित्य आता है वह खोखला होता है और रग-मच पर पाउडर पोतकर बने हुए राम की तरह वह असली राम की शक्तियो से हीन होता है। उसमे सत्यालोक की जगमगाहट नही होती। ऐसा ज्ञान जिसके पीछे चारित्र्य का बल नही है, पोला है और वह वाचको एव श्रोताओ का मनोरजन तो कर सकता है पर उन्हे दिव्य आनन्द का अनुभव कराने मे समर्थ नही हो सकता। उससे अन्तःकरण की प्यास नही

मिटती । ऐसा ज्ञान कागज के उन सुन्दर फूलो की भाति है, जो दीवारो की शोभा हो सकते है, पर वातावरण को आत्ममय, सुगन्धमय करके हमारे मन-प्राण को शीतल नही कर सकते ।

नीति से मनुष्य को मालूम होता है कि उसे कैसा बनना चाहिए । मनुष्य जैसा है, जिस स्थान पर खडा है, उस अवस्था से, उस स्थान से, जैसा उसे होना चाहिए अर्थात् जहाँ उसे जाना है वहाँ तक पहुँचने का जो मार्ग है, जो नियम है, जो सिद्धान्त है, उन्हे ही नीति कहते है । यह हमारे भविष्य का निर्माता है । आगे हम जैसा बनेगे या दुनिया को बनायेंगे, वह सब इसके अन्तर्गत आ जाता है ।

इस परिभाषा के अनुसार धर्म का समावेश भी नीति मे हो जाता है । आज हमारे व्यवहार-जगत् में धर्म नीति से प्रथक् हो गया है । यही नही, बहुत से लोग यह भी कहने लग गये है कि इन दोनो का कोई अनिवार्य सम्बन्ध नही है । पर गाधीवाद जोरो से कहता है कि यह मिथ्या है । बिना नीति के धर्म लँगडा है, वह एक कदम नही चल सकता । यदि धर्म, धर्म बना रहना चाहे, यदि उसे शुद्ध तत्त्वज्ञान का, आत्मा के दिव्य मन्दिर का रक्षक मानें, तो वह नीति के बिना अशक्त है । यही क्यो, जैसा कि महात्माजी कहते हैं—"सच्ची नीति मे, बहुत अशो मे, धर्म का समावेश हो जाता है ।"

नैतिक गुणो की आवश्यकता की बात चलाने पर अक्सर यह सुना जाता है कि 'दुर्बलता मानव-स्वभाव है । ये बडी-बडी बाते केवल पुस्तको मे लिखने की है । यह बडा कठिन मार्ग है, साधारण लोगो से सभव नही है ।" इसमे सन्देह नही कि हमने अपने को ऐसा बना लिया है कि दुर्बलता की ओर हमारी स्वाभाविक प्रवृत्ति,—सहानुभूति हो गई है । हम उसके साथ किसी प्रकार का कठोर व्यवहार करना नहीं चाहते,

वरन् कोई वैसा सकल्प करता है, तो उसे नीरस, शुष्क—और कभी-कभी अशिष्ट तक—कहकर उसकी हँसी तक उड़ाने की कोशिश करते हैं। यह भी ठीक है कि यह रास्ता वर्तमान मन स्थिति में हमारे लिए जरूर कठिन हो गया है, पर जरा-सी दृढ़ता और मन के जरा-से सयम से यह कठिनाई भी बहुत-कुछ सरल हो जाती है। यदि हम अपने सम्बन्ध में थोड़ा कठोर होने का अभ्यास करें, यदि हम थोड़ा जागरूक रहें तो शीघ्र ही हमको मालूम हो जायगा कि यह मार्ग नीरस नहीं है, इसमे एक अलौकिक आनन्द है। इसमे धार को चीरकर, उसपर तैरकर बाहर आ जाने का, आत्म-विजय का उल्लास है।

नीति ही एक ऐसा शास्त्र है जिसका सम्पूर्ण तत्त्व आचरण पर निर्भर है। अन्य शास्त्रो अथवा विद्याओ की भांति इसे आचरण से अलग किया ही नहीं जा सकता। और चूँकि हमने अपने ज्ञान को केवल मानसिक कल्पना, तर्क एव सग्रह की वस्तु बना दिया है, उसे आचरण से भिन्नकर लिया है इसीलिए नीति-मार्ग हमें खाडे की धार के समान मालूम होता है। पर यह तो हमारी अपनी ही कल्पना-द्वारा उत्पन्न हुई कठिनाई है जो हमारे सकल्प और जागरूकता से सहज ही दूर हो सकती है। जैसे आचरण-प्रधान होने कारण यह अन्य सब शास्त्रो एव विद्याओ से कठिन मालूम होती है वैसे ही दूसरी दृष्टि से देखें तो यह इनकी अपेक्षा सरल एव सहज-साध्य भी है। इसका यह कारण है कि इसका उद्गम कहीं बाहर नहीं है। यह हमारे ही भीतर है और हमारी मानव-प्रकृति का एक महत्त्वपूर्ण प्रेरक अग है। महात्माजी के ही शब्दो मे कहे तो "न्याय या भलाई करने की शक्ति कहीं बाहर से नहीं आती। वह अपने अन्दर—आत्मा मे ही मौजूद है। केवल उसको विकसित करने की आवश्यकता है।" नीति अपने व्यावहारिक रूप मे यद्यपि सामाजिक है किन्तु उसका

सब व्यक्ति के अन्दर ही है। मूलतः अन्तर्मुखी होने से उसकी कसौटी व्यक्तिगत है। इसीलिए एक बात जो एक आदमी के लिए नीतिमयी हो सकती है, वही दूसरे के लिए अनैतिक भी हो सकती है। नीति में भावना प्रधान है। कार्य तो बाह्य रूप है—वह तो अच्छा होना ही चाहिए पर उसके पीछे जो भावना हो, उसका सात्त्विक एवं ऊर्ध्वमुखी होना अनिवार्य है। नीति के लिए भावना की पवित्रता एवं शुभ संकल्प अनिवार्यतः आवश्यक है। इसी कसौटी पर वह कसी जा सकती है। महात्माजी लिखते हैं—"दो मनुष्य एक ही काम को करते हैं, परन्तु उनमें से एक का काम नीतिमय हो सकता है और दूसरे का नीति-रहित। जैसे कि एक मनुष्य अत्यन्त दयार्द्र होकर गरीबों को भोजन देता है और दूसरा मान-बड़ाई या प्रतिष्ठा के लिए या ऐसे ही अन्य स्वार्थपूर्ण विचार से वही कार्य करता है। दोनों काम एक-से होने पर भी पहला काम नीतियुक्त है और दूसरा नीति-रहित।"

यहाँ एक प्रश्न और उठ खड़ा होता है। इस उदाहरण में हम देखते हैं कि दोनों कार्यों का परिणाम तो एक-सा है। दोनों कार्यों से भूखों का पेट तो भरता ही है। पर कार्य एवं फल में समानता होते हुए भी, भावों में असादृश्य होने के कारण एक को हम नीतिमय ठहराते हैं और दूसरे को नीति-रहित। यह भी देखा जाता है कि नीतिवाले काम का हमेशा अच्छा ही प्रभाव दृष्टिगत नहीं होता। नीति का विचार करते समय हमें यही देखना चाहिए कि जो कार्य किया गया है वह शुभ है और शुद्ध भाव से किया गया है। इस प्रकार नीति में कार्य और भाव दोनों शुद्ध होने चाहिएँ, फिर फल चाहे कुछ भी हो। परिणाम पर हमारा अधिकार नहीं है।

इस सम्बन्ध में अधिक सूक्ष्म विचार करने से मालूम होता है कि

"इतना ही बस नही है कि नीतियुक्त प्रत्येक कार्य शुभ इच्छा से होना चाहिए किन्तु वह बिना किसी दबाव के किया हुआ होना चाहिए।"* निष्काम भाव से किया हुआ काम ही नीति-युक्त कहा जा सकता है। जैसे 'मै आफिस देर मे पहुँचूँगा तो मेरी नौकरी चली जायगी।' इस नौकरी छूटने के भय से यदि कोई सवेरे जल्दी उठे तो इसमे कोई नीति नही है। महात्माजी एक ऐतिहासिक उदाहरण देते हुए कहते है—"एक बार इगलैण्ड के द्वितीय रिचर्ड के पास कुछ किसान आये और उन्होने लाल आँखे करके रिचर्ड से अपने हको को माँगा। रिचर्ड ने उस समय कुछ न कहकर अपने हाथ से उनके हको का 'दस्तावेज' लिखकर किसानो को सौप दिया। रिचर्ड को किसानो से जो भय था वह जब दूर हो गया, तब उसने जोर-जुल्म करके वह दस्तावेज उनसे छीन लिया। इस घटना के विषय मे यदि कोई यह कहे कि रिचर्ड का पहला काम नीतियुक्त था और दूसरा अनीतियुक्त, तो यह कहना भूल से खाली नही। रिचर्ड का पहला काम भय के कारण हुआ था अत उसमे नीति का जरा भी अश न था।"

इसलिए उत्तम नीति या विशुद्ध नीति-धर्म के लिए महात्मा जी इतनी शर्ते लगाते है—

१ काम शुभ हो,
२ शुभ भावना से किया गया हो,
३ जबर्दस्ती या दबाव के कारण नही, स्वप्रसूत—अपने आप—हो,
४ किसी प्रकार के भय के कारण न किया गया हो,
५ अपने लाभ या स्वार्थ की उसमे इच्छा न हो,
६ आत्मानुभव मे आस्था रखकर किया गया हो।

---

*महात्मा गाधी।

९

महात्मा गांधी

का

राष्ट्रवाद

महात्मा गाँधी भारत के व्यापक क्षेत्र मे राजनीति को लेकर आये, कम से कम जन-समाज ने उन्हे इसी रूप मे सामने आते देखा, इसलिए राजनीतिक नेता और देशभक्त राष्ट्रवादी के रूप मे ही हम उन्हे अधिक जानते-मानते रहे है। पर राष्ट्रवाद की मीमा मे आजकल व्यावहारिक रूप से जितनी बातो का समावेश होता है, गाधीजी का राष्ट्रवाद, देश-प्रेम और राजनीति स्पष्टत उनसे भिन्न ओर ऊँची है। यदि ऐसा न होता, तो एक आश्चर्य की बात होती। जो राष्ट्रवाद आज दुनिया के लिए एक घातक विप हो रहा है, जिसने मानव-हृदय के सत्य और सुन्दर का गला घोट दिया है और जो ससार की शान्ति के लिए एक महान् खतरा सिद्ध हो रहा है, जिसकी नीव मे दुर्बल एव पीडित मानवता की हड्डियाँ डाली गई है, उस राष्ट्रवाद को गाधीजी कैसे उत्तेजन दे सकते थे ?—वह जिन्होने अहिसा को अपने साँस के साथ मिला लिया है।

पर जब हम गहराई मे डूबकर देखते है तो हमे दो बाते बिजली की तरह स्पष्ट चमकती दिखाई देती है। एक तो यह कि उनका राष्ट्रवाद जीवन की साधना का एक अग है, वह स्वत कोई ध्येय नही, साधन मात्र है। दूसरी बात यह कि वह राजनीतिक की अपेक्षा नैतिक अधिक है। उसकी नीव भोतिक अतृप्ति पर, भौतिक आकाक्षाओ पर आश्रित नही, वह नैतिक समृद्धि, जीवन की श्रेष्ठता एव आध्यात्मिक सिद्धान्तो पर आश्रित है।

× × ×

आज पश्चिम मे तो राष्ट्रवाद का रूप इतना भयानक हो गया है कि वहाँ के श्रेष्ठ विचारक उसे एक दुर्गुण समझने लगे है—उसके विरुद्ध आवाज भी उठाने लगे है। पर महात्मा गाधी ने इस अस्त्र को बहुत शुद्ध

रूप मे हमारे सामने रखा है। वह जानते है कि भारत के पास ससार को देने के लिए एक सन्देश है। पर जबतक वह अपने पाँव पर खडा नही होता, जबतक वह स्वय अपनी अगणित सन्तान को अपने चेतन प्रवाह मे अनुप्राणित नही करता, तबतक ऐसी धाँधली एव राष्ट्रीय अहकार के जमाने मे विश्व के राष्ट्र उसकी आवाज क्यो सुनेंगे? फिर जहाँ भारत एक राष्ट्र है, एक देश है, वहाँ वह विश्व का एक महत्त्वपूर्ण अग भी तो है। इसलिए उसके गरीबो, दीन-दुखियो एव पीडितो को उठाने का काम राष्ट्र-सेवा और देश-सेवा के साथ ही विश्व-सेवा भी है।

आज देश दुर्बल, दुर्दशाग्रस्त, त्रस्त, एव पीडित है, आज वह भूखा है। पेट की ज्वाला के कारण अविश्वास, ईर्ष्या-द्वेष, पाखण्ड इत्यादि बढते जाते है। सात्त्विक शक्तियो का लोप तो हो ही चुका है, राजनीतिक शक्तियो का ह्रास भी पराकाष्ठा को पहुँच गया है। तामसिकता के अन्धकार ने चारो ओर से हमको आच्छन्न कर लिया है, इसलिए मनुष्यता का, विश्व का एक बडा और महत्त्वपूर्ण भाग आज पगु है,—सडता और गलता जा रहा है। इसलिए उसे उठाना, बचाना गाधी के विश्व-प्रेम के प्रतिकूल कैसे हो सकता था? वह तो उल्टा उसके विश्व-प्रेम का एक अग था और है।

इस प्रकार हम देखते है कि गाधीजी का राष्ट्रवाद वस्तुत उनके विश्व-प्रेम का एक अग है। "मानवता के लिए मरने की आकाक्षा के पूर्व भारत को जीना सीखना होगा"* यह उनका वाक्य है। इस वाक्य के भीतर उनके भारत-प्रेम का भावी रूप झलकता है। वह विश्व को पगु और पीडित भारत का दान करना नही चाहते, उसकी सेवा के

*"India must learn to live before she can aspire to die for humanity"

लिए साहसी, पौरुषमय एव आत्म-विश्वासी भारत की भेंट करना चाहते हैं। एक बार उन्होंने कहा था—"यूरोप के चरणो पर लोटता हुआ भारत मानवता को क्या आशा दे सकता है? प्रबुद्ध और स्वतन्त्र भारत के पास निश्चय ही पीडित—कराहते हुए—विश्व को देने के लिए शान्ति एव सदिच्छा का एक सदेश होगा।"* इन वाक्यो मे पहले उद्धरण की अपेक्षा भावी विश्व-सेवा का भाव स्पष्टतर है। वह भारत को विश्व-सेवा का एक सबल साधन बनाना चाहते हैं। आगे चलकर इसे उन्होंने और स्पष्ट भाषा मे कहा है—"मेरा लक्ष्य विश्व-मैत्री है। हम विश्व-भ्रातृत्व के लिए जीना और मरना चाहते हैं। × × ×†"

× × ×

इतने पर भी प्रश्न किया जा सकता है कि गाधीजी विश्व-प्रेम को ऐसे जटिल राजनीतिक रूप मे लेकर हमारे सामने क्यो आये? इसका सीधा उत्तर यह है कि इसमे दरिद्रनारायण की सेवा का विस्तृत क्षेत्र खुला पडा था। इसमे अपने साथ, दूसरो का भी उद्धार निहित था। महात्माजी ने आत्म-साधना का जो मार्ग अगीकार किया उसमे प्रयोग की दृष्टि से यह सब से अच्छा साधन था। सत्य और अहिंसा का साधक राजनीति के नाम पर सगठित हिंसा को कैसे देख सकता है? अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिए हिंसा के इस व्यापक ताण्डव को बन्द ही करना होगा। १९२४ ई० मे विवादो एव दलबन्दियो से दुखित होकर उन्होंने कहा था—"यदि हम इस बात को याद रखे कि असहयोग की अपेक्षा

---

*"An India prostrate at the feet of Europe can give no hope to humanity An India awakened and free has a message of peace and good-will to give to a groaning world"

† 'My goal is friendship with the world We shall live for the world-brotherhood and die for world-brotherhood "

अहिंसा अधिक महत्त्वपूर्ण है और अहिंसा के बिना असहयोग पाप है, तो मैं आजकल जिन विचारों को पल्लवित कर रहा हूँ, वे सूर्य-प्रकाश की तरह स्पष्ट हो जायँगे। × × ।" यह एक साधक की वाणी है, राजनीतिज्ञ की नहीं। एक आध्यात्मिक साधक ही यह कहने का साहस कर सकता है कि असहयोग में अहिंसा अधिक महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः गांधी की फिलासफी, गांधी के विचारों का दृष्टिकोण जानने के लिए ये शब्द मार्के के हैं। गांधी के असहयोग के मूल में स्वार्थ की अपेक्षा, जिस से असहयोग किया जाय उसे ठीक रास्ते पर लाने का भाव ही प्रधान है। यह भौतिक विजय का नहीं, शुद्धता की दिशा में हृदय-परिवर्तन का मार्ग है और इसलिए अहिंसा की शर्त इसके लिए आवश्यक है। यहाँ विरोधी के दुर्गुणों को दूर करने का भाव है, विरोधी को नष्ट करने का भाव नहीं है। इसके लिए साधन की शुद्धता एवं भावों की पवित्रता आवश्यक है। और यह प्रेम से ही संभव है।

वर्तमान विदेशी शासनतन्त्र की आलोचना करते हुए वह कहते है—"इस प्रणाली की सब से बड़ी खासियत क्या है? यही कि यह परोपजीविनी है और राष्ट्रीय जीवन की गन्दगी पर जीवित रहती है, उस से अपने लिए पोषण-सामग्री ग्रहण करती है। × × × यह शासन-तन्त्र हिंसा की नींव पर स्थित है। हिंसा उसके लिए परम आवश्यक है। उसके खिलाफ अहिंसात्मक शक्ति—सजीव, सक्रिय शक्ति—उत्पन्न करना हमारे असहयोग का उद्देश्य था। × × ।" इन मार्मिक शब्दों में उनके राष्ट्रवाद की, तथा उसे अपनाकर जनता के सामने लाने की, व्याख्या है। जबतक राष्ट्रीय जीवन गन्दा है तभीतक यह शासन प्रणाली चल सकती है। इसलिए राष्ट्रीय जीवन में जो गन्दगी आ गई है, जो बुराइयाँ भर गई है उन्हें दूर करने के लिए महात्मा गांधी ने असहयोग का

अवलम्बन किया था। यह विदेशी शासन हिंसा की नींव पर स्थित है, इसलिए उसे दूर करने के लिए व्यापक चेतना उत्पन्न करना आवश्यक था। यह चेतना अहिंसात्मक थी। इसके मूल मे विरोधी का बुरा ताकना न था, उसे ठीक मार्ग पर लाना और विश्व-शान्ति के लिए सामञ्जस्य की स्थिति पैदा करना था। वह भारत को विश्व की प्रगति का, पीडित राष्ट्रो को उठाने का एक साधन बनाना चाहते है। वह स्वय कहते है—"मेरी महत्वाकाक्षा (भारत की) पूर्ण स्वतन्त्रता से कही ऊँची है। मै भारत की मुक्ति के द्वारा युरोपीय शोषण के घातक पहियो से पृथ्वी की दुर्बल एव पीडित जातियो का उद्धार करना चाहता हूँ।" और इस मे सन्देह नही कि यदि उनका आन्दोलन सफल हुआ (और, भले देर से हो, उसकी सफलता मे सन्देह ही किसे हो सकता है ?) तो ससार को एक नया प्रकाश, नया मार्ग मिल जायगा।

दूसरी बात यह कि गाँधीजी के राष्ट्रवाद मे अहकार का, दूसरी जातियोके सिर पर चढकर जबरदस्ती बैठने का, अपने राष्ट्रीय स्वार्थ के लिए दूसरे दुर्बल देशो का यथेच्छ उपयोग करने का भाव ही नही है। जिस दिन ऐसा हुआ, उस दिन विश्व गाँधीजी के तात्त्विक निर्देश की हत्या का चीत्कार सुनेगा। वह जानते है कि आधुनिक सभ्यता ने मानव-मन को इतना उद्वेगमय बना दिया है, उसके अन्दर इतने प्रलोभन उत्पन्न कर दिये है, कि शान्ति का कही नाम नही रह गया है। वाह्य के प्रति, असार के प्रति इस प्रलोभन और उद्वेग का असर मानव-कर्म के प्रत्येक क्षेत्र पर पडा है। राष्ट्रीयता विषमय होगई है, शासन-तत्र खर्चीला, दिखाऊ और हिंसक—पीडा—होगया है। सामाजिक न्याय वा निर्णय की सात्त्विकता पर तामसिक कालिमा चढ गई है। इसलिए व्यक्ति और समष्टि को सात्त्विकता की ओर ले जाये बिना कोई शासन-तत्र आदर्श नही बन सकता।

इसीलिए एक ओर वह उतना ही कमाने पर ज़ोर देते हैं, जो हमारे जीवन को बनाये रखने के लिए मूलत एव अनिवार्यत आवश्यक हो और दूसरी ओर बडे-बडे कल-कारखानो का विरोध करते हैं क्योकि इनसे होड का भाव पैदा होता है और इस होड की दौड मे, सात्त्विक सफलता न मिलने पर, तामसिक उपायो की शरण लेने की प्रवृत्ति पैदा होती है। कुछ दिन पहले उन्होने यह प्रश्न उठाया था कि राष्ट्रीय नौकरियो मे ५००) मासिक से अधिक किसी का वेतन न होना चाहिए। अपने अनुयायियो के लिए उन्होने जो नियम बनाये हैं उनमे अपरिग्रह और अस्तेय का बडा महत्त्व है। फिर उनका अस्तेय भी बडा व्यापक है। वह कहते हैं—"यदि कोई आदमी कोई भी ऐसी चीज लेता है जिसकी उसे अनिवार्य आवश्यकता नहीं है, तो यह चोरी है। इस सिद्धान्त के मूल मे यह सुन्दर सत्य विराजमान है कि प्रकृति हमारी दैनिक जरूरतो के लिए काफी सामान एकत्र कर देती है। इसलिए हमे अनावश्यक खाद्य-सामग्री, वस्त्र तथा अन्य सामग्री एकत्र न करनी चाहिए।"

इस प्रकार गांधीजी के राष्ट्रवाद मे एक ओर भारत के पीडितो एव दीन-दुखियो के उद्धार का भाव है और दूसरी ओर भारत को विश्व-भ्रातृत्व का, विश्व-सेवा का एक प्रबल साधन बनाने की आकांक्षा है। तीसरी बात यह है कि वह अभी से अपने सिद्धान्तो के साथ ऐसी शर्ते लगाते जा रहे हैं जिससे पश्चिम के ढँग की राष्ट्रीयता का भक्षक रूप हमे न देखना पडे। उनका खादी-आन्दोलन, उनका आश्रम-जीवन का प्रयोग, उनके आहार-विषयक प्रयोग, उनकी अहिंसा, उनका दरिद्रनारायण का प्रेम, उनका सात्त्विक वृत्तियो पर जोर डालना, उनकी सरल जीवन-प्रणाली सब राष्ट्रीयता को तामसिक मार्ग पर न जाने देने वाले रोक हैं।

आवश्यकताओ की वृद्धि की आधुनिक सभ्यता की कसौटी को वह

नही मानते। उनकी जीवन की नाप विलकुल दूसरी प्रणाली पर स्थित है। वह कहते है—"किसी देश मे सुव्यवस्था का होना इस बात पर निर्भर नही है कि उसमे कितने लखपति-करोडपति है वरन् सर्व-साधारण मे गरीबी के अभाव पर निर्भर है।" आगे और भी कहते है—"असली अर्थ मे सभ्यता आवश्यकताओ के वढाने मे नही वरन् उनके स्वेच्छापूर्वक घटाने मे है, क्योकि इसीमे असली सुख, सतोष, तृप्ति एव सेवा की शक्ति की वृद्धि होती है।"*

इसीलिए उनके 'स्वराज्य' मे "जाति एव धर्म का भेद-भाव नही है। न वह शिक्षितो एव पैसेवालो की मिल्कियत है। वह सबके लिए है जिसमे धनी भी है, पर अपग, अधे और गरीबी से जूझते हुए श्रमिक तथा साधारण जनता भी है।" उनके "स्वप्न का स्वराज्य गरीबो का स्वराज्य है।"

इन बातो से स्पष्ट है कि गॉधीजी का राष्ट्रवाद उस राष्ट्रवाद से विलकुल दूसरे प्रकार का है, जो आज युरोप मे वढ रहा है और विश्व के लिए एक खतरे की चीज वन गया है। वह तो वस्तुत विश्व-प्रेम का, विश्ववाद का, मानव-जाति की सेवा का एक अग है, साधन है। यह हो सकता है कि उनका स्वप्न सफल हो, यह भी हो सकता है कि उनका स्वप्न असफल होजाय। इसे कौन कह सकता है? पर यह एक जुदा सवाल है। यहाँ तो यही सवाल है कि उनका राष्ट्रवाद किस कोटि का है और विचार के वाद हम इस नतीजे पर पहुँचते है कि वह साधारण कोटि के प्रचलित राष्ट्रवाद से भिन्न है एव विश्व-प्रेम का ही एक अग है—उनकी आत्म-साधना की ही एक सीढी है।

*"Civilisation in the real sense of the term consists not in the multiplication, but in the deliberate and voluntary reduction of wants, which promotes real happiness and contentment, and increases the capacity for service"

५

गांधी जी के तत्त्वज्ञान

में

कला का स्वरूप और साधना

कला के स्वरूप के सम्बन्ध मे जगत् मे जैसा मतभेद दीख पडता है, वैसा ही उसकी साधना और उद्देश्य के सम्बन्ध मे भी है। 'कला कला के लिए' अथवा 'कला जीवन के लिए' इस प्रश्न ने अनेक सिद्धान्तो एव गलतफहमियो की सृष्टि की है। पर सच पूछे तो यह मत-भेद, और उसी कारण यह सिद्धान्त-भेद, बहुत करके अधूरे और असगत विचारो का परिणाम है। यह केवल हमारे दृष्टिकोण की भिन्नता और अपूर्णता का सूचक है पर सच्चे विचारक और तत्त्वज्ञानी की दृष्टि मे तो दोनो ही सिद्धान्त कला के एक ही दिव्य रूप के पूजक है। कला का शाश्वत सत्य तो एक ही है और वह यह कि जीवन के अन्त सौन्दर्य को सर्वोत्तम सिद्धि के रूप मे प्रकाशित करना। जिसने कला की साधना मे आत्म-निमज्जन किया है, उसके लिए जीवन और कला मे विरोध नही हो सकता और इसलिए जहाँ ऊपर से कला के इन दो स्कूलो मे बडा अन्तर मालूम पडता है तहाँ सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इस अन्तर के पीछे एक व्यापक एव अभिन्न सत्य दिखाई पडता है। जब हम कहते है 'सत्य सत्य के लिए' तब उसका यह मतलब नही होता कि सत्य की साधना मे उपयोगिता का कोई स्थान नही वरन् उलटे सर्वग्राही कल्याण का सर्वोत्कृष्ट साधन होने के कारण ही उसे यह रूप दिया जाता है। 'सत्य सत्य के लिए' कह कर हम सत्य को स्वय सर्वश्रेष्ठ परिणाम के रूप मे उपस्थित करते है। सत्य ही कारण है और सत्य ही उस कारण का परिणाम भी है। इसी प्रकार जब हम कहते है 'कला कला के लिए', तब भी उसका तात्पर्य यही हो सकता है कि वह सत्य से भिन्न नही है, सत्य की साधना का श्रेष्ठ साधन होने के कारण उसकी स्वत एक उपयोगिता है और सत्य के शिव एव सुन्दर रूप का

प्रकाश करने के कारण, 'कला कला के लिए' कहकर हम उसके असाधारण कल्याणकारी रूप को प्रकट करते हैं। उपयोगितावाद का जो भयानक अनात्त्विक रूप जगत् के व्यवहार मे नित्य देखा जाता है, उसके कारण 'कला कला के लिए' कहकर हम जहाँ साधारण स्वार्थ-भावना की उपेक्षा करते है वहा दिव्य भावो के प्रेरक कल्याण का स्वागत भी करते हैं। वस्तुत इस मतभेद का कोई कारण न था पर जब मध्ययुग मे कला केवल शृगार और दरबार की चीज़ रह गई और जब जीवन से उसका सम्पर्क न रहा तथा जीवन की साधना से हटाकर उसे वैभव मे कुछ इस प्रकार सजाया गया कि विलासिता को प्रोत्साहन मिले तब 'कला कला के लिए' एक हास्यास्पद सिद्धान्त बन गया।

अपनी प्राचीन विलासिता की विरासत मे, हमने कला के जिस रूप को पाया है, आज भी हममें से अनेक उसी जीवन-विरुद्ध दिशा मे उसे ले जाना चाहते हैं। 'कला-कला के लिए' का यह एक अत्यन्त विकृत अर्थ है। कला से नीति का बहिष्कार करने के लिए, जिसमे हमारी वासनाएँ जरा पानी पाती रहे, ज़रा पनपती रहे, यह एक परदा खडा किया गया। कला का शाश्वत तत्त्व तो शिव—कल्याण—ही हो सकता है। और जीवन का उद्देश्य भी शिव की, कल्याण की साधना ही है। यह साधना व्यक्ति और समाज को लेकर अनेक रूपो में अपने को प्रकट करती है। पर इन सब रूपो में सनातन सत्य तो एक ही रहता है। कलाकार की आत्मा मे जब दिव्यानन्द का उदय होता है तो वह सगीत, चित्र, काव्य इत्यादि मे अपने आनन्द-विह्वल व्यक्तित्व को प्रकाशित करता है। इस प्रकाश मे वही आनन्द, आत्मा की वही अनिर्वचनीय अनुभूति प्रकट होती है। यह अपने को साधारण मानव की अनुभूति से कुछ ऊँचे सतह पर पाती है। दिव्यानन्द के इस प्रकाश में व्यक्ति एव समाज के कल्याण का एक सूक्ष्म

सन्देश होना है। आनन्द तो स्वय ही कल्याण-रूप है। विना कल्याण के आनन्द स्थायी नहीं होता। इसलिए सच्ची कला मे दिव्य आनन्द का चिर-स्फुरण है, नीति का रहस्यमय प्रकाश है। यह कला आचार और कर्मकाण्ड की जजीरो मे बधी नहीं होती परन्तु इनसे मुक्त रहकर भी वह नीति और सदाचार के सर्वोच्च उद्देश्य को पूरा करती है। वह जीवन से अलग होकर नहीं चलती, जीवन को प्रकाशित करती और जीवन को उठाती हुई चलती है। कलाकार मे जो कुछ भी सत्य, शिव और सुन्दर होता है, उसके जीवन की नाना आकृति-विकृतियो के भीतर जो एक सूक्ष्म सत्य छिपा—दवा पडा होता है और जिसे साधारणत न तो दर्शक और न कलाकार ही अपने जीवन मे देख पाता है वह आनन्द-विह्वलता की घडी मे अपने-आप प्रकाशित हो जाता है। समुद्र की वाढ जैसे तट पर अनेक रत्नो को छोड जाती है वैसे ही कलाकार के अन्त-करण मे आने वाला ज्वार एक अनिर्वचनीय सत्य को मूर्तिमान कर जाता है। यही सच्ची कला है।

गाधीवाद में कला की व्याख्या

गाधीजी के तत्त्वज्ञान मे कला का यही चिर-सत्य रूप दिखाई देता है। यहाँ कला आत्म-मथन का प्रसाद है। वह जीवन मे कल्याण को मूर्त्त करती है, वह अन्त सौन्दर्य को लेकर चलती है। ऐसा नहीं कि वाह्य उसके लिए विल्कुल उपेक्षणीय है पर वाह्य मे अन्तर का प्रति-विम्व होना चाहिए,—जैसे दर्पण मे छाया होती है। वाह्य को अन्त-सौन्दर्य का दर्पण वनना चाहिए। भीतर कोई साधना नहीं, कोई अनुभूति नहीं तो वाह्य मे कला का चिरन्तन सन्देश कैसे प्रकट होगा, कैसे जाग्रत होगा? यह तो कागज के उन रगीन फूलो की तरह है, जिनमे जीवन

नहीं, सुगन्ध नही, एक शुष्क सजावट, एक यांत्रिक व्यवस्था-मात्र है।

कला को लेकर गाधीजी के साथ बहुत अन्याय हुआ है। बहुत-से लोग समझते है कि इस महापुरुष की नाडियो मे खून नहीं, उनके लिए वह कला से कोरा एक रूखा पत्थर-प्राणी है। परन्तु यह उनका मत होसकता है जो न गाधी को जानते है, न गाधी के तत्त्वज्ञान को जानते है, जिन्होने गाँधी का शरीर देखा है पर गाधी को नहीं देखा। गाँधीजी स्वय कहते है –

"इस विषय मे मेरे सम्बन्ध मे बहुत गलतफहमी फैली हुई है। मै कला के दो भेद करता हूँ—आन्तर और बाह्य। और इनमे से किस पर तुम अधिक जोर देते हो, यही सवाल है। मेरे नजदीक तो बाह्य की कीमत तब तक कुछ नहीं है, जब तक अन्तर का विकास न हो। **समस्त कला अन्तर के विकास का आविर्भाव ही है।** मनुष्य की आत्मा का जितना आविर्भाव बाह्य रूप मे होता है उतना ही उसका मूल्य है।"*

इस प्रकार हम देखते है कि गाधीजी के तत्त्वज्ञान मे अन्त विकास की अभिव्यक्ति ही कला का स्वरूप है। इस अन्त विकास के लिए बाह्य की सहायता की आवश्यकता बहुत कम है। वह अत्यन्त प्राकृतिक वस्तुओ मे भी कला के चरम आनन्द को उद्भासित देखता है। इसीलिए गाँधीजी के कमरे मे चाहे चित्र न दिखाई दे, चाहे तम्बूरे और सितार न हो परन्तु वह अपने को कला का परमपूजक मानते है। उन्होने वह चीज ग्रहण करली है जो चित्र और वादय के पीछे छिपी हुई है। उन्होने कला की आकृति को छोड दिया है, उसके प्राण-प्रवाह को, उसकी 'स्पिरिट' को ले लिया है। इसीलिए सच्ची कला उनके जीवन मे, आत्म-दर्शन की साधना के रूप मे, उदय हुई है। वह कहते है —

---

* 'हिंदी नवजीवन, वर्ष ४, अक १२, पृष्ठ ८९।

"जो कला आत्मा को आत्म-दर्शन करने की शिक्षा नही देती, वह कला ही नही है। और आत्म-दर्शन के लिए मेरा काम तो कला के नाम से विख्यात ऐसी वस्तुओ के बिना भी चल सकता है। इसी से चाहे मेरे पास तुमको बहुत कला न दिखाई दे, फिर भी मेरा दावा है कि मेरा जीवन कला से परिपूर्ण है। मेरे कमरे की दीवारे बिलकुल सफेद हो और यदि मेरे सिर पर छप्पर भी न हो तो मैं कला का खूब उपयोग कर सकता हूँ। ऊपर आकाश मे नक्षत्रो और ग्रहो की जो अलौकिक लीला मुझे देखने को मिलती है, कौन चितेरा या कवि उसका आनन्द मुझे दे सकता है? फिर भी यह न समझो कि कला के नाम से परिचित तमाम वस्तुओ का मैं त्याग करता हूँ। हॉ, मेरे नजदीक सिर्फ उसी कला का कुछ अर्थ है जो मुझे आत्म-दर्शन मे सहायक होती हो।"*

यो गॉधीजी कला की निम्नलिखित दो मुख्य कसौटी स्थिर करते है —

१ अन्त मुखी हो,
२ आत्म-दर्शन मे सहायक हो } वस्तुत दोनो एक ही है।

इस प्रकार की सच्ची कला न केवल कलाकार के हृदय को अननुभूत आनन्द से भर देती है वरन् वह व्यक्तिभोग्य की जगह सर्वभोग्या बनकर जनसाधारण के सूने दु ख-कातर जीवन मे भी आनन्द का सौरभ बखेरती है। गॉधीजी की कला न केवल मानव-जीवन को सुखद बनाती वरन् उसे उज्वल करती और ऊँचा भी उठाती है। वह जीवन के साथ साथ चलती है। यही नही, गॉधीजी ने उसे वैभव के कारागार से मुक्त करके सर्वसाधारण के ग्रहण करने योग्य बना दिया है।

---

* हिन्दी नवजीवन, वर्ष ४, अक १२, पृष्ठ ८९।

अन्त मुर्खी कला

जब हम इस बात पर विचार करते है कि गाधीजी कला को अन्त मुखी क्यो मानते है तब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि सच्ची और परिपूर्ण कला बाह्य नही हो सकती, आन्तर कला ही सच्ची कला है क्योकि इसमे ही जीवन का शाश्वत-सत्य प्रकट हो सकता है। जो कला बाह्य साधनो और अवलम्बनो पर जितना ही निर्भर करती है वह उतने ही अशो मे अपूर्ण और कृत्रिम है। ज्यो-ज्यो बाह्यावलम्बन बढता है, कला की कृत्रिमता भी बढती है। यह एक दृष्टि है। दूसरी दृष्टि यह है कि 'सर्वोत्कृष्ट कला व्यक्तिभोग्य न होगी, सर्वभोग्य होगी। और कला जब बाह्य अवलम्बनो से अधिक से अधिक मुक्त होगी तभी सर्वभोग्य बन सकेगी। इसलिए मै बहुत मर्तबा यह कहता हूँ कि जो चन्द्र और असख्य तारागो से प्रकाशित नभोमण्डल को देखकर जगतकर्त्ता की लीला मे तल्लीन हो सकता है उसे चित्रकार के दृश्यो मे चित्रित नभोमण्डल और सूर्योदय तथा सूर्यास्त देखने की कोई आवश्यकता नही होती है।
वह तो प्रतिक्षण नये-नये रग धारण करते हुए, नया सौन्दर्य प्राप्त करते हुए आकाश मे ही सब कुछ प्राप्त कर लेगा।"*

गाधीवाद कला की जो कसौटी रखता है और जो कल्याणकारी रूप उसे देना चाहता है उसे लेकर, मानकर चले तो हमे प्रत्येक स्थान पर प्राकृतिक कला का आनन्द मिल सकता है और वह बाह्य सुविधाओ एव साधनो पर भी निर्भर नही करता या जरा और सँभालकर कहना चाहे तो बहुत कम निर्भर करता है। जब रात के तीसरे पहर निर्जन पथ पर जाते हुए आत्म-विस्मृत यात्री के कण्ठ ने, उसके हृदय का आनन्द गीतो

---

* हिन्दी नवजीवन, वर्ष ५, अक २९ पृष्ठ २२९।

के रूप मे फूट निकलता है, जब प्रभात-काल मे चक्की पर बैठी हुई नवोढा वहुएँ गाती है तो क्या उनमे कला का प्रकाश आपको नही दिखाई देता? यह सजीव, नयनाभिराम आकाश पृथ्वी के हर कोने पर दीन-से-दीन जन को भी प्राप्त है। यदि हम उसमे व्याप्त कला का स्वरूप देख सके तो अपनी कला की परिधि को हम कितना व्यापक बना लेते है।

गाँधी तत्त्वज्ञान ने इस अन्त मुखी एव व्यापक कला की साधना को कितना सरल-सुलभ एव उज्ज्वल कर दिया है। इस अमल-धवल प्रकाश मे धुलकर कला निखर उठी है। जो कला केवल मनोविनोद की वस्तु थी उसे गाधीवाद ने जीवन के ऊँचे सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया है। उसकी दृष्टि से "इस निर्दोष, सर्वभोग्य कला का मनुष्य के आध्यात्मिक विकास मे बहुत बडा स्थान है।" वह कला का अस्तित्त्व जीवन के लिए मानता है। वहाँ कला की सार्थकता इस बात मे है कि वह जीवन मे सत्य की प्रतिष्ठा करे। गाधी तत्त्वज्ञान मे कला आत्म-साक्षात्कार का एक साधन है। जीवन मे एक ऐसी सीमा भी आती है जहाँ इन्द्रिय-भोग्य कला पीछे छूट जाती है। उस समय मनुष्य के लिए उसकी आवश्यकता नही रह जाती और वह "आत्मा की कला मे मुग्ध हो जाता है।"

कला की साधना

परन्तु इस पर एक शका उठाई जा सकती है। और वह यह कि उपर्युक्त अवस्था मे भी क्या मनुष्य के लिए शब्द, स्पर्श, रूप और गन्ध शून्य हो जाते है? यह शका एक बार उठाई गई थी। यही नही, यह भी पूछा गया था कि 'यदि ऐसी ही दशा को अपना ध्येय माने तब तो हमे आरम्भ मे ही अपनी इन्द्रियो को शिथिल और अन्ध बनाने की आदत डालनी चाहिए?'

समय तो उनके हृदयाकाश मे शब्द, स्पर्श, रूप और गन्ध की सारी सृष्टि उत्पन्न हुई थी। और यही सबब है कि उन्होने बडे आनन्द के साथ यह गाया था

हमसे रहा न जाय, मुरलिया की धुन सुन के।
बिना बसन्त फूल इक फूले,
भ्रमर सदा लोभाय। मुरलिया० ॥
गगन गरजे बिजली चमके,
उठती हृदय हिलोर।
विकसित कमल मेघ वर साजे,
चितवन प्रभु की ओर। मुरालिया० ॥
ताली लागी तहँ मन पहुँचा,
गैब ध्वनी फहराय।
कहै 'कबीर' आज प्राण हमारा,
जीवत ही मर जाय ॥ मुरलिया० ॥

कबीर तो जुलाहा थे और 'योग कर्मसु कौशलम्' इस न्याय से वे बडे अच्छे जुलाहे होगे। अपने बुने हुए थान मे उन्होने अनेक रग भरे होगे और उनकी प्रशसा भी की होगी। परन्तु एक समय तो उन्हे अपने बुने हुए कपडे का और रगे हुए कपडे का सौन्दर्य देखने के बदले 'साई' की बुनी हुई चदरिया मे कला देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, 'साहब रगरेज' की रगी हुई चुनर मे उन्हे अनुपम कला दिखाई दी थी।

झीनी-झीनी बिनी चदरिया

और—

साहेब है रँगरेज, चुनर मोरी रँग डारी।
भाव के कुड, नेह के जल में, प्रेम रग दई बोर।

दु:ख का मैल छुड़ाय दिया रे, खूब रंगी झकझोर ।।
कहै 'कबीर' रँगरेज पियारे, मुझपर हुए दयाल ।
सुंदर चुनरी ओढ़ि के रे, भयो हूँ मगन निहाल ।। चुनरमोरी० ।।

कबीर बहरे होते, अन्धे होते या गूँगे होते तो भी क्या उनके आनन्द में कुछ कमी हो सकती थी ?'' ×

कला की साधना की चार अवस्थाएँ

तो क्या इस आन्तर कला की साधना का मूर्त कला से कुछ विरोध है ? नहीं है, और है भी। नहीं इस मानी में कि दोनों में सत्य तो एक ही प्रकट होता है। विरोध है इस मानी में कि दोनों साधना की दो अवस्थाओं को सूचित करती है। आन्तर कला में मूर्त कला सम्मिलित है। आन्तर कला में वह सब सत्यांश है जो मूर्त कला में है और उसमें कुछ अधिक है। इसे स्पष्ट करते हुए गांधीजी स्वयं कहते हैं —

'परन्तु जैसे ज्ञानी को मूर्ति के दर्शन करने में कोई घृणा नहीं है, ज्ञानी तो मूर्ति के पास भी ईश्वर में तल्लीन होकर ही खड़ा रहेगा, उसी प्रकार अन्तराकाश में से सब कुछ प्राप्त कर लेनेवाले को भी बाह्याकाश देखकर तृप्त होनेवालों से विरक्ति नहीं होती है। वह भी बाह्याकाश देखकर उतना ही आनन्द प्राप्त करेगा। और उसी प्रकार बाह्याकाश को देखकर आनन्द प्राप्त करनेवाला भी चित्रकार-द्वारा चित्रित चित्र से विरक्ति न करेगा। यदि चित्र ही देखने को मिले तो वह चित्र देखकर प्रसन्न होगा। तीनों स्थिति एक से एक अधिक स्वतंत्रता की है। और ये तीनों स्थितियाँ मनुष्य में एक समय में एक साथ भी रह सकती है—रहती हैं। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य जान में, या अनजान में भी स्थूल से सूक्ष्म की

× हिंदी नवजीवन वर्ष ५ अंक २९ पृष्ठ २२९-३०

ओर प्रयाण करता है। परन्तु आखिर आत्मा की कला अमृत है, इसमें कोई सन्देह है? बाह्य साधनों पर अथवा इन्द्रिय ज्ञान पर आधार रखने वाली कला में जितनी आत्मा होगी है उतने ही अंशों में वह अमृत कला के समान बनती है और जिसमें आत्मा का बिल्कुल ही अभाव होगा, वह कला न होगी, केवल कृति ही बन जायगी और क्षणभंगुर होगी। उस अमृत कला का अंश जिसमें अधिक है, वह मोक्षदायी है।"*

इस प्रकार की साधना की तीन अवस्थाएं हुईं। संक्षेप में इन तीनों को हम इस रूप में रख सकते हैं —

१ जिसमें कलाकार बाह्य प्रकृति के सौन्दर्य का चित्रण करता है। जैसे सूर्योदय या सूर्यास्त या वनस्थली का चित्र।
अथवा प्रेम या प्रेम-काव्य की साधना में जैसे प्रेमी के रूप-रंग का वर्णन एवं चित्रण।

२ जिसमें बाह्य प्रकृति, जैसे सूर्योदय या सूर्यास्त या वनस्थली के दर्शन में कला को देखता है।
प्रेम की साधना में जैसे प्रेमी प्रियतम के विरह में कातर और विकल होता है।

३ जिसमें अनुभूति की गति पूर्णतः अन्तर्मुखी होती है और जब कलाकार को यह सूर्योदय, सूर्यास्त, वनस्थली, बाह्य प्रकृति की सब सामग्री अपने अन्तर में ही दीख पड़ती है।
जैसे प्रेमकी साधना में प्रेमी प्रियतम को अपने हृदय में देखता है।

परन्तु इस तीसरी अवस्था तक ही साधना का अन्त नहीं हो जाता। साधना का अन्त तो वहाँ जाकर होता है जहाँ सब बन्धन टूट जाते है,

---

* हिन्दी नवजीवन; वर्ष ५ अंक २९ पृष्ठ २३०।

जब कलाकार अपनी कला के स्थूल साधन की स्थूलता मे भी विशालता देखता है और जब एक सूक्ष्म अनुभूति द्वैत के परदे को हटा देती है। इसकी तुलना प्रेम की उस अवस्था मे की जा सकती है जिसमे प्रियतम और प्रेमी दो नही रह जाते, एक हो जाते है। जब बूँद महासमुद्र मे विलीन हो जाती है, जब व्यक्ति समष्टि हो जाता है। भक्ति या उपासना की जो साधना है उसमे भी यही चार अवस्थाएँ हम देखते है। गाधी के जीवन मे इस चरम अनुभूति का आभास हम एक जगह पाते है। चरखा यो एक अत्यन्त स्थूल पदार्थ है। गाधी उसका उपासक है साधक है। वह कातने को सुन्दर कला बताता है, वह चरखा को मोक्ष का साधन मानता है। वही गाधी दूसरी ओर कहता है, कला अन्त मुखी होनी चाहिए। यह विरोध कैसा ? पर क्या इसमे विरोध है ? मैंने ऊपर कहा है कि साधना की चोथी अवस्था में साधन की स्थूलता नष्ट हो जाती है। इसलिए वृत्तियो के अन्त मुखी हो जाने की अवस्था मे स्थूल की स्थूलता के बधन कट जाते है और वह मुक्ति का साधन बन जाता है। जैसे गाधी चरखे को चरखे के रूप मे, स्थूल रूप मे नही देखता, वह उसे 'स्पिरिट' के, चेतन के चक्ररूप मे देखता है। उसका कहना है —

"मैंने चरखे को सभी के लिए मोक्ष का साधन मान कर उसका वर्णन नहीं किया है। हाँ, मेरे लिए तो वह मोक्ष का साधन है ही क्योकि मेरी दृष्टि में चरखा कोई स्थूल चरखा नहीं है। मैंने तो उसके चारो ओर एक बडी सृष्टि की रचना की है। चरखे को गरीबो का जीवनतन्तु मानकर, उनके साथ प्रेम के ततु से बाँधने वाला मानकर ही मैं उसे चलाता हूँ और उसे अपनी मोक्ष-साधना का आधार मानता हूँ। सभी के लिए वह मोक्ष का साधन नहीं हो सकता है, जैसे किसी अग्रेज को राम-नाम

में कुछ विशेषता न मालूम होगी परन्तु तुलसीदास जी को तो रामनाम रटन के सहारे सारा जगत् ही मिथ्या मालूम होता था।"*

इस प्रकार गांधी तत्त्वज्ञान में कला की साधना का आरंभ तो होता है बाह्य को लेकर परन्तु धीरे-धीरे बाह्यावलम्बन, रूप और आकृति की यह आसक्ति छूटती जाती है। कला की प्रवृत्तियाँ अन्त मुखी होती जाती हैं। स्थूल में स्थूलता का और जड में जडता का जो आभास है वह चेतन रूप में बदलने लगता है, यहाँ तक कि स्थूल स्थूल नहीं रह रह जाता, चेतन की अभिव्यक्ति का साधन-मात्र रह जाता है।

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आजकल बहुत साधारण विचार और अनुभूति के लोगों में 'कला कला के लिए' का जो भाव ग्रहण किया जाता है और जो स्वयं इस वाक्य में प्रकट होने वाले मूल भावों के विपरीत है, गांधी तत्त्वज्ञान उसका विरोधी है। मेरा मतलब यह कि यदि 'कला कला के लिए' का यह अर्थ हो कि कला की उपासना क्षुद्र स्वार्थों के लिए, संसार की क्षुद्र 'उपयोगिताओं' के लिए न होनी चाहिए, उसका उद्देश्य इससे ऊँचा है, वह एक सूक्ष्म, एक चैतन्य आनन्द-प्रवाह की वस्तु है तब तो गांधीवाद उसका समर्थक है क्योंकि सांसारिक व्यवहार में या स्थूल अर्थ में चाहे ऐसी कला का उपयोग कुछ न हो परन्तु मन में शुद्ध आनन्द को प्रवाहित करने में, हमारी मन स्थिति को ऊँचाई पर ले जाने में, हमें संसार के स्वार्थ-जाल से मुक्त करके क्षण-भर के लिए ऊपर उठाने में वह अपनी असाधारण उपयोगिता प्रकट करती है। इस अर्थ में 'कला कला के लिए' और 'कला जीवन के लिए' दोनों परस्पर विरुद्ध दीख पडने वाले सिद्धान्त आपस में मिल जाते हैं, एक ही रूप में प्रकट होते हैं।

---

* 'हिन्दी नवजीवन', भाग ५, अंक २९, पृष्ठ २३०।

परन्तु इस तात्त्विक एकता के होते हुए भी गांधीजी के मुख से 'कला कला के लिए' ये शब्द सुनाई न देंगे। इसका कारण है। गांधीजी एक जन-शिक्षक हैं। अपने व्यक्तित्त्व की चहारदीवारियों को तोड़कर वह सब में मिल गये हैं। इसलिए वह जो कहते हैं, सँभालकर कहते हैं, इस रूप में कहने का प्रयत्न करते हैं कि उसका दुरुपयोग न हो। दुरुपयोग तो सभी चीजों का होता है पर हम लोगों को अपनी ओर से दुरुपयोग करने की सुविधा क्यों देंगे? दुरुपयोग हो भी तो कम से कम हो। जितना हम बचा सकें, बचा लें। आज जब जन-साधारण में, शिक्षित युवकों के जीवन में, साधना की, तप की, आत्मोत्थान की बड़ी कमी है, तब गांधी या गांधीवाद यदि 'कला कला के लिए' का प्रचार करे तो उसका दुरुपयोग होने की सम्भावना अधिक है। इसलिए वह 'कला जीवन के लिए' ही मानता और कहता है। पर इस 'जीवन के लिए' का अर्थ भी सामान्य नहीं है। इसका अर्थ यह है कि जिस सत्य की प्रतिष्ठा करना, जिस शिव की, कल्याण की साधना जीवन का उद्देश्य है, उसकी अनुभूति में, उसकी प्राप्ति में उसे सहायक होना चाहिए। 'जीवन' को यदि हम साधारण स्थूल आवश्यकताओं के अर्थ में प्रयुक्त करने लगें तो यहाँ भी कला का उद्देश्य नष्ट हो जाता है।

इसीलिए गांधीवाद जीवन में तपस्या को प्रधानता देता है। जिसमें जितना ही तप है, उसमें कला की उतनी ही सच्ची प्रतिष्ठा होगी। इस पर जोर देते हुए स्व० द्विजेन्द्रलाल राय के सुपुत्र श्री दिलीपकुमार राय से एक बार गांधी जी ने कहा था —" मैं कहता हूँ, तपस्या जीवन में सबसे बड़ी कला है। संगीत के खिलाफ मैं हो ही कैसे सकता हूँ? मैं तो संगीत के बिना भारत के धार्मिक जीवन के विकास का खयाल ही नहीं कर सकता। मैं संगीत की तरह तमाम कलाओं का प्रेमी हूँ। हाँ,

कला के नाम से आजकल अनेक चीजो का परिचय कराया जाता है, मै उनके खिलाफ जरूर हूँ। कला के लिए तो हृदय चाहिए। "*

इस पर दिलीप बाबू ने कहा —"मै भी यह नही मानता कि कला जीवन से बढकर है।"

गाधी जी ने कहा —"जीवन समस्त कलाओ से श्रेष्ठ है। मै तो समझता हूँ कि जो अच्छी तरह जीना जानता है, वही सच्चा कलाकार है। उत्तम जीवन की भूमिका के बिना कला किस प्रकार चित्रित की जा सकती है ? कला के मूल्य का आधार है जीवन को उन्नत बनाना। जीवन ही कला है। कला विश्व के प्रति जाग्रत होनी चाहिए—कला जीवन के प्रति जाग्रत होनी चाहिए।*

साधना शिव की या सुन्दर की ?

परन्तु इतना सब होने पर भी, सूक्ष्म दृष्टि से देखे तो दोनो सिद्धातो के श्रेष्ठ प्रतिनिधियो मे भी, साधना-मार्ग (Method of approach) की दृष्टि से एक बडा अन्तर मालूम पडता है। 'कला कला के लिए' स्कूल का साधक 'सुन्दर' को लेकर अपनी साधना आरभ करता है। वह सौदर्य मे ही सत्य का दर्शन करता है, जब गाधी अथवा गाधी तत्त्वज्ञान सत्य मे सौन्दर्य का दर्शन करता है। गाधीजी सुन्दर मे सत्य को देखने के क्रम को उलट कर कहते है —

"मै सत्य मे ही अथवा सत्य के द्वारा सौन्दर्य का दर्शन करता हूँ। मुझे तो वे तमाम वस्तुएँ, जिनमे सत्य का प्रतिबिम्ब हो, सुन्दर मालूम होती है—सच्चा चित्र, सच्चा काव्य और सच्चा गीत मालूम होती है। आमतौर पर लोगो को सत्य मे सौन्दर्य दिखाई नही देता, उन्हे वह भय-

---

*'हिन्दी नवजीवन', वर्ष ३, अक २६, पृष्ठ २१२।

कर मालूम होता है। पामर लोग सत्य को भीषण देखकर उससे भागते हैं, क्योंकि सत्य का सौन्दर्य वे देख नहीं पाते। जहाँ मनुष्य सत्य में सौन्दर्य देखने लगा कि समझना चाहिए, मनुष्य कला का दर्शन करने लगा कला-रसिक होने लगा।"*

इस प्रकार जहाँ कला की साधना से पहला दल 'सुन्दर' की प्रतिष्ठा करता है, सुन्दर की पूजा करता है, वहाँ गांधी तत्त्वज्ञान का अनुयायी सत्य और शिव को ही लेकर चलता है। गांधीजी का कहना है कि इन दोनों से 'सुन्दर' अपने आप आ जाता है। यह ठीक भी है और ग़लत भी है क्योंकि अत्यन्त व्यापक दृष्टि से देखे तब तो यह भी कहना पडेगा कि सत्य में शिव और सुन्दर दोनों का समावेश है। इसी प्रकार यह भी कह सकते हैं कि शिव में सत्य और सुन्दर आ जाते हैं। सच पूछें तो सत्य, शिव, सुन्दर एक ही है। किसी एक की साधना से, चरम विकास की अवस्था में, अन्य सब सहज प्राप्य हैं क्योंकि जो सत्य है, वही शिव है और जो शिव है, वही सुन्दर है। इसलिए कला के सच्चे साधक के लिए सुन्दर उपेक्षणीय नहीं हो सकता। ब्रह्म का निर्देश करते समय भी सत्, चित्, आनन्द तीनों के द्वारा हम अपनी धारणा को प्रकट करते हैं। 'सत्य शिव सुन्दर इसी त्रिविधि ब्रह्म-कला के दूसरे नाम-रूप हैं। पूर्णकला में केवल सत्य और शिव ही नहीं सुन्दर भी प्रकट होता है। इस कसौटी पर कसने से गांधी-वाद की कला की साधना में भी किंचित् अपूर्णता मालूम पड़ती है। तब क्या गांधीजी ने इस त्रिविध कला की परिपूर्णता को नहीं समझा है? क्या उन्होंने अपने तत्त्वज्ञान में 'सुन्दर' की उपेक्षा की है?

इस सम्बन्ध में मुझे एक सम्वाद की याद आती है जो गाँधीजी और शान्ति निकेतन के कलाविद् श्री रामचन्द्रन के बीच, आज से १५

*हिन्दी नवजीवन, वर्ष ४, अंक १२, पृष्ठ ९०

वर्ष पूर्व, १९२४ ई० मे, हुआ था। उसे दे देने से इन प्रश्नो की गुत्थियाँ अपने-आप सुलझ जाती है। सौन्दर्य-द्वारा सत्य-दर्शन का प्रश्न उठाकर श्री रामचन्द्रन ने पूछा —

"परन्तु क्या सत्य ही सौन्दर्य और सौन्दर्य ही सत्य नही है ?"

गांधीजीने कहा—"नही, पर सौन्दर्य क्या है, यह मुझे जानना होगा। जन-साधारण जिसे सुन्दर कहते है, उसे यदि तुम सत्य कहते हो तो सत्य और सुन्दरता मे कोसो का अन्तर है। कहो तुम्हे अत्यन्त रूपवती स्त्री सुन्दर मालूम पडती है ?"

"जी, हाँ।"

"उसका चरित्र खराब हो तो भी ?"

रामचन्द्रन जरा चकराये, रुककर बोले—"जी नही, भ्रष्ट चरित्र स्त्री सुन्दर हो ही नही सकती। जो सच्चा कलाकार होगा, वह जैसा अन्तर होगा, वैसा ही बाहर दिखा सकेगा।"

"फिर तो सच्चे कलाकार की बात आई न ? सच्चा कलाकार किसे कहे, यही तो सवाल है। जो अन्तर को देखता है, बाह्य को नही वही सच्चा कलाकार है। सच पूछे तो सत्य से भिन्न सौन्दर्य-जैसी कोई चीज नही। सुकरात अपने जमाने के अत्यन्त कुरूप लोगो मे माना जाता था। फिर भी उसके जैसा सत्यनिष्ठ कौन था ? अर्थात् सत्य का बाह्य रूप के साथ कुछ भी सम्बन्ध नही। उलटा मै तो सुकरात को सुन्दर कहूँगा। उसकी सत्यशीलता, उसका सत्यजात जीवन-भर का ओज उसे सौन्दर्य समर्पित करता है। और फिडियास जैसे चित्रकार ने भी, जिसे बाह्य रूप मे खूब सौन्दर्य दिखाई देता था, सुकरात के सौन्दर्य को स्वीकार किया है। उसकी कलाने सत्य के सौन्दर्य को देख लिया था।"*

---

*हिन्दी नवजीवन वर्ष ४ अंक १२ पृष्ठ ९०।

इस सम्वाद का विश्लेषण करने से मालूम होता है कि गाधी तत्त्वज्ञान सच्चे सौन्दर्य की उपेक्षा नही करता, केवल रूप के अर्थ मे प्रयुक्त होनेवाले सौन्दर्य का विरोध करता है। और चूंकि जन-साधारण मे सौन्दर्य रूप का पर्याय समझ लिया गया है, इसलिए भ्रम न होने देने के उद्देश्य से, साधना मे गाधीवाद केवल सत्य और शिव पर ही जोर देता है। उनका यह भी कहना है कि सत्य और शिव की साधना मे प्रमाद की, आत्म-वचना की कम गुंजाइश है और उसमे सुन्दर अपने आप प्रकट हो जाता है। उसके विपरीत यदि सुन्दर को लेकर चलते है तो बहुत सभव है व्याख्या-भेद और दुरुपयोग के कारण सत्य और शिव की हम, अनजान मे ही नही, उपेक्षा करने लगे। यहाँ विरोध केवल शाब्दिक है, तात्त्विक नही है। सौन्दर्य रूप से भिन्न वस्तु है। रूप जब शरीर-भोग्य है तब सौन्दर्य आत्मानुभव का विषय है। रूप देश-काल की सीमा मे सीमित है और सौन्दर्य चिरन्तन तथा देश-काल की सीमा से परे है। इस सच्चे सौन्दर्य के द्रष्टा के हृदय मे सत्य और शिव प्रकट होते है क्योकि बिना सत्य और शिव की अनुभूति के सच्चा सौन्दर्य-दर्शन सभव नही है। गाधी तत्त्वज्ञान कला की अनुभूति में, इसी सच्चे सौन्दर्य का समर्थक है, रूप का नही।

और आज कला के साधक भी तो यही मानकर चलते है। आकृति अथवा नाम-रूप से परे जो भावानुभूति अथवा आत्मानुभूति है अवनीन्द्र इत्यादि उसे ही चित्रकला मे प्रकाशित कर रहे है। एक किसी व्यक्ति के शरीर का चित्र होता है, जिसे फोटो या उसकी प्रतिच्छवि कहते है। पर उसमें व्यक्ति के अन्दर जो कुछ विशिष्टता है, व्यक्तित्व है वह प्रकट नही होता। जैसे गाधी के फोटो मे 'गाधीत्व' का कोई प्रकाश नहीं, उनके शरीर को देखकर उसका अन्दाज नही किया जा सकता कि वह क्या है?

इसी तरह एक हत्यारा है जिसका रूप अत्यन्त मनोरम है इसलिए उसका फोटो दे देने से उसकी क्रूरता को हम प्रकट नही कर सकते। इसलिए श्रेष्ठ कलाकार उसकी मन स्थिति को लेकर, उसकी आकृति के पीछे छिपे उसके व्यक्तित्व को, उसके सूक्ष्म शरीर को लेकर उसका चित्र बनाते है। कविता, चित्रकला, मूर्तिकला तीनो मे भावाधार को नही, भाव को लेकर कला की सृष्टि करने मे श्रेष्ठ कलाकार ध्यान दे रहे है। पापी के रूप का नही, पाप का, प्रेमी का नही, प्रेम का चित्रण किया जाने लगा है। कला अब स्थूल को, नाम-रूप को छोड रही है और उस स्थूल के, उस नाम-रूप के पीछे जो अमूर्त्त सत्य है उसे प्रकट करने को उतावली है। इस प्रकार के मानस-चित्रण मे अनेक कलाकारो ने बडी सफलता प्राप्त की है।

इसलिए यदि गाधीवादी कलाकार सत्य और शिव को लेकर चलता है और दूसरे प्रकार का श्रेष्ठ कलाकार 'सच्चे' सौन्दर्य को लेकर चलता है तो दोनो एक ही स्थान पर पहुँचते है। हाँ, यह अवश्य है कि दूसरे के लिए पथ-भ्रष्ट हो जाने की सभावनाएँ और खतरे अधिक है।

इन सब सब बातो का निष्कर्ष तो यही निकलता है कि गाँधी तत्त्व-ज्ञान मे कला, बाह्यावलम्बनो को गौण मानकर चलती है। वह अन्त-मुखी तथा सर्वभोग्या है। साधक कला की साधना मे सत्य ओर शिव के द्वारा सुन्दर का दर्शन करता है। सत्य मे सुन्दर समाविष्ट है। दोनो स्कूलो मे जो भेद है बाह्य है, तात्त्विक नही। दोनो स्कूलो की पूर्णता तो 'सत्य शिव सुन्दर' मे ही होती है, दोनो के साधना-मार्ग (method of approach) मे ही अन्तर ओर भेद है। आत्मदर्शी और अन्त मुखी कला की श्रेष्ठता तो दोनो ही मानते है। आत्मानुभूति तो स्वत अन्त मुखी होती है और बिना आत्मानुभूति के सच्ची कला जीवन मे, कृति मे प्रकट नही होती।

६

गांधी दर्शन का नैतिक
और
आध्यात्मिक आधार

"Otheis abide our question—Thou art free!
We ask and ask—Thou smilest and art still
Out-topping knowledge!"

विश्व के मानस-क्षितिज पर गाँधी उस तेजोपुञ्ज-सा है, जो प्रकाश ही प्रकाश देता है, जलाता नही। और हमारी निन्दा स्तुति से परे, अपने को हर कदम पर परखता और प्रतिक्षण अन्धकार से लडता हुआ, आत्म-शोध की यात्रा मे, अपने अविच्छिन्न आत्म-विश्वास के साथ चला ही जा रहा है।

× × × ×

युग-पुरुष गाँधी के मूल मे जो तत्वज्ञान है उसे समझने के लिए हमे उनके राजनैतिक स्तर के नीचे पैठना होगा। उनका तत्व-ज्ञान एक जीवित आदर्श है। वह प्रति क्षण प्रयोग करते हुए चलता है। उसका विकास उसके आचरण के अनुभवो पर आश्रित है। यह बुद्धि-विलास नही, जीवनव्यापी और आचरण-प्रधान प्रयोग है। गाँधीजी जो कुछ कहते है, उसके पीछे केवल सैद्धान्तिक आधार ही नही होता, बल्कि उनका समस्त जीवन, उनका आचरण, उनकी अनुभूति और उनका विश्वास सब कुछ होता है। हम लोग, जो बुद्धि-विलास के आदी होगये है, जिनका चैतन्य बेसुध है और जो अपने आत्म-विश्वास को खोकर जीवन को टुकडे टुकडे करके ग्रहण करते है, इन सब बातो मे एक विरोध देखते है, पर यदि हम ठीक-ठीक अपने को देख सके तो विरोध हमे अपने मे दिखाई देगा। गाँधी जी का जीवन तो आश्चर्यजनक रूप मे सामञ्जस्य और ऐक्य मे पूर्ण है। वस्तुत हमारे इतिहास मे जीवन के तत्वो का इतनी सफलता और सूक्ष्मता के साथ सामञ्जस्य (सिनथेसिस) करने वाला

दूसरा नहीं हुआ। उनका दृष्टिकोण सामञ्जस्यात्मक दृष्टिकोण (सिन्थे-टिकल आउटलुक) है और मुमुक्षु तथा लोकसंग्रही का यही एक दृष्टिकोण होजाता है।

× × × ×

सत्य की साधना

सत्य गांधीजी के तत्त्वज्ञान का केन्द्र है। आत्यन्तिक रूप में यही आत्म-साक्षात्कार या मोक्ष है। पर गांधीजी का आत्म-साक्षात्कार किसी बिन्दु पर जाकर समाप्त नहीं हो जाता। वह प्रति बिन्दु पर प्रकट होकर जीवन को ओत-प्रोत कर लेना चाहता है। जैसे रेखा अनन्त बिन्दुओं से बनती है और उसमें किसी ऐसे स्थान की कल्पना नहीं की जा सकती जहाँ बिन्दु न हो, वैसे ही गांधीजी जीवन को सत्यमय देखना चाहते हैं। जैसे रेखा में प्रत्येक स्थान पर बिन्दु है, वैसे ही जीवन में या विश्व में प्रत्येक स्थान पर सत्य है, पर जैसे रेखा में साधारणतः दर्शक बिन्दु को देख नहीं पाता, वैसे ही हम जीवन में सत्य का का साक्षात्कार कर नहीं पाते हैं। यह सत्य-सिद्धि तभी संभव है जब हम सदैव अपनी दृष्टि को निर्दोष और निर्मल रख सकें। जब प्रति क्षण हम अपना निरीक्षण, परीक्षण और परिष्करण करते हुए चलें। गांधीजी का यही पथ है। प्रत्येक क्षण उनका जीवन साधना का एक अविच्छिन्न प्रयत्न है। वह सतत प्रयत्नशीलता और जागरूकता का जीवन है। उसमें एक निरन्तर तैयारी है। उसके क्षेत्र बदलते हैं पर उसकी साधना प्रत्येक क्षेत्र, प्रत्येक स्थान और प्रत्येक रंग में ज्यों की त्यों चलती रहती है। प्रत्येक अनुभव के साथ सत्य पनपता है।

मैं ऊपर कह चुका हूँ कि गांधी तत्त्वज्ञान में सत्य की कोई अलग मंजिल नहीं है। प्रति जगह सत्य का साक्षात्कार सम्भव है, क्योंकि ऐसी

कोई जगह नही जहाँ सत्य न हो। वस्तुत जिसे हम असत्य कहते है, वह भी सत्य का ही एक विकृत और स्थान-दोष से दूषित रूप है। प्राचीन वेदान्त भी यही मानता था कि जगत् मे जो कुछ है सब चिन्मय और आनन्दमय है ओर जड भी चेतन का अविकसित रूप है। असत्य भी सत्य का विरोध नही है क्योकि सत्य के आधार से ही असत्य की स्थिति हो सकती है। इसलिए गाधी दर्शन मे सर्वत्र सत्य की स्थिति है, पर उस सर्वव्यापी सत्य के अनुभव और साक्षात्कार के लिए एक विशेष मनोरचना, निरन्तर तैयारी और निर्मल अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता है।

सर्वव्यापी सत्य (जिसे गाधीजी 'परमेश्वर' भी कहते है) के साक्षात्कार के लिए अहिसा की साधना, गाधी तत्त्वज्ञान का अनिवार्य अग है। अनुभव ओर विचार से यह स्वय ज्ञान हुआ है कि अहिंसा के बिना सत्य-दर्शन सम्भव नही है। यहाँ तक कि मै कह सकता हूँ कि अहिसा स्वयँ एक अपरिणत सत्य है या यह कि जब वह हमारे मन, वचन ओर कर्म मे व्याप्त हो जाती है तो स्वय सत्य का रूप धारण कर लेती है।

सत्य का साधन अहिसा

गाधीजी कहते है—"सत्यमय थवाने सारु अहिसा अेज मार्ग छे" (सत्यमय होने के लिए अहिसा ही एक मार्ग है।) अथवा "अेनु (सत्य रूपी सूरजनु) सम्पूर्ण दर्शन सम्पूर्ण अहिसा बिना अशक्य छे", (इसका अर्थात् सत्यरूपी सूर्य का सम्पूर्ण दर्शन सम्पूर्ण अहिसा के बिना अशक्य है।) * गाधी तत्त्वज्ञान की दृष्टि से सम्पूर्ण जगत् का अस्तित्व और विकास अहिसा पर आश्रित है। हिसा मे कोई विकास सम्भव ही नही है। इतिहास की पदार्थमूलक व्याख्या (मेटेरियलिस्टिक या डाइलेक्टिकल इण्टरप्रेटेशन ऑव् हिस्ट्री) मे

---

* आत्म कथा, द्वितीय खड, पृष्ठ ३७८

जिनका विश्वास है, वे अक्सर गांधी तत्त्वज्ञान की अहिंसा की हँसी उड़ाते हैं, पर इसका कारण यह है कि वे अहिंसा के तत्त्व को समझ ही नहीं सके हैं, न समझने की चेष्टा करते हैं। ऊपर-ऊपर से उसे छूकर अपनी बात को पकड़ लेना चाहते हैं। वस्तुतः गांधी तत्त्वज्ञान की दृष्टि से सत्य की भांति ही अहिंसा भी इतनी व्यापक है कि कोई हिंसा उसका सहारा लिये बिना खड़ी नहीं हो सकती। हिंसा तो अहिंसा का एक विकृत और स्थानच्युत (मिसप्लेस्ड) रूप मात्र है। जगत् के बड़े-बड़े हिंसायुक्त आन्दोलनों के मूल में देखें तो वहाँ भी हिंसा अहिंसा की स्थापना के लिए ही क्षम्य मानी गई है। जहाँ दूसरों के कष्ट-निवारण का भाव है, जहाँ लोगों के शोषण से व्यक्ति या व्यक्ति-समूह व्यथित है तहाँ वह इन शोषित लोगों के प्रति होनेवाले शोषण और हिंसा को दूर करने के लिए ही तो हिंसा करता है। मतलब यह है कि हिंसा अहिंसा से पूर्णतः स्वतन्त्र और अलग चीज नहीं, वह अहिंसा का ही गलत और विकृत प्रयोग है। ऐसी हिंसा से जो सफलता हमको कभी-कभी दिखाई देती है वह इसीलिए कि उसके मूल में अहिंसा थी और जितनी गहरी अहिंसा की यह भावना होती है उतनी ही कम हिंसा का आश्रय लेना पड़ता है। इसका अर्थ यही है कि किसी कार्य के मूल में जितनी ही अधिक व्यापक और विशुद्ध अहिंसा होती है अथवा हमारा हेतु जितना ही अहिंसामूलक होता है, उतनी ही स्थायी सफलता और सुख हम अपने अथवा समाज के लिए प्राप्त कर सकते हैं। यदि हेतु की भाँति साधन भी अहिंसा से ओतप्रोत हो तो जो परिणाम होता है वह हिंसाहीन और स्थायी रूप से कल्याणकर होता है क्योंकि हेतु के अहिंसक होते हुए भी साधनों में हिंसा होने से जो परिणाम निकलता है वह सर्वथा हिंसामुक्त नहीं हो सकता। जैसे सार्वजनिक हित के लिए हिंसा-बल के द्वारा की हुई क्रान्ति जब साधारण अर्थ में सफल

कही जाती है तब भी उसमे हिंसा के बीज छिपे रहते है, फलत क्रान्ति-विरोधी शक्तियाँ, वस्तुत सन्तुष्ट न होने से, समय पाकर, उसी हिंसा द्वारा अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेती है। और यो क्रान्तियाँ और प्रति-क्रान्तियाँ (काउटर रेवोल्यूशन) होती रहती है और सार्वजनिक कल्याण वस्तुत अपने औचित्य पर निर्भर नही करता वरन पक्ष-विपक्ष के हिंसा-बल की कमी ज्यादती पर निर्भर करता है। मूल मे हिंसा बनी रहती है अत भय, षड्यन्त्र इत्यादि भी बने रहते है।

क्षुद्र 'स्व' और महत् 'स्व'

वस्तुत जगत् के सारे सम्बन्ध आत्म-रूप को लेकर ही है। 'स्व' में मनुष्य का जो प्रेम है उसीमे वह टिका हुआ है। पर यह क्षुद्र 'स्व' महत् 'स्व' का विरोधी नही, एक घटक, या तात्त्विक भाषा मे, बीज-रूप है। जैसे जरा-से बीज मे सम्पूर्ण और विशाल वृक्ष तत्त्वरूप मे समाया हुआ है, वैसे ही हमारे छोटे-से 'स्व' में भी विराट 'स्व' निहित है। ज्यो-ज्यो हम छोटे 'स्व' को विस्तृत करते जाते है त्यो-त्यो हमारा प्रेम भी परिधि और गहराई मे बढता और परिष्कृत होता जाता है। यहाँतक की जब क्षुद्र 'स्व', विराट 'स्व' मे बदल जाता है तब किसी वस्तु के प्रति हमारा द्वेष नही रह जाता। ज्यो-ज्यो हमारी अहिंसा विस्तृत होती है त्यो-त्यो हमारा स्व भी विशाल और विशालतर होता है अथवा उलटकर यो भी कह सकते है कि ज्यो-ज्यो 'स्व' बढता है त्यो-त्यो अहिंसा भी व्यापक और परिष्कृत होती है। ज्यो-ज्यो हम क्षुद्र स्वार्थो से ऊपर उठते है और ज्यो-ज्यो अधिकाधिक प्राणियो के प्रति हमारे मन मे 'स्व'-त्व का या प्रेम का भाव जाग्रत होता है त्यो-त्यो हम सत्य की सिद्धि के निकटतर होते जाते है। इस तरह अहिंसा के विस्तार के साथ विराट 'स्व' का दर्शन होता है।

यही आत्म-साक्षात्कार है और यही सत्य की सिद्धि है। शतपथ ब्राह्मण (१।२।३।२-७) में कहा है—"यज्ञमेव विष्णु पुरस्कृत्येयु । वामनो ह विष्णुरास । तेनेमा सर्वां पृथिवी समविन्दन् ।" अर्थात् "यज्ञ विष्णु थे और वह वामन थे। बाद मे वह धीरे-धीरे बढ़ते गये और सर्वत्र व्याप्त हो गये।' वामन से विराट का यह रूपक 'स्व' के विकास का ही रूपक है। धीरे-धीरे क्षुद्र 'स्व' को बढ़ाकर समस्त जग को आत्म-रूप कर लेना, यही सत्य की सिद्धि है और यही मोक्ष या आत्म-साक्षात्कार है।

आत्मशुद्धि की आवश्यकता

इस अहिंसा के लिए आत्म-शुद्धि आवश्यक है। गाधीजी ने स्वय लिखा है—"आत्म-शुद्धि विना जीव मात्र नी साथे ऐक्य नज सधाय। आत्म-शुद्धि विना अहिसा धर्मनु पालन सर्वथा असम्भवित छे। अशुद्धात्मा परमात्माना दर्शन करवा असमर्थ छे।' (आत्म-कथा, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ३७१) अर्थात् "आत्म-शुद्धि के बिना जीव मात्र के साथ ऐक्य की साधना हो ही नही सकती। आत्म-शुद्धि के बिना अहिंसा धर्म का पालन सर्वथा असम्भव है। अशुद्धात्मा परमात्मा का दर्शन करने मे असमर्थ है।" इसी-लिए गाधीजी ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे आत्म-शुद्धि पर ज़ोर दिया है। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र सब के लिए आत्म-शुद्धि सच्ची उन्नति का एक रामबाण या निर्भ्रान्त उपाय है। आत्म-शुद्धि उनके तत्त्वज्ञान का मेरुदण्ड है और इसपर उन्होने इतना जोर दिया है कि उनका तत्त्वज्ञान आध्या-त्मिक की अपेक्षा नैतिक ही अधिक लगता है, पर ऐसा उन्होने मनुष्य की आध्यात्मिकता की रक्षा के लिए ही किया और चूँकि उन्हे धर्म को जटिलता से निकालना था इसलिए ज्ञान का एक सरल और सबकी समझ मे आने योग्य मार्ग उन्होने रक्खा।

आत्मशुद्धि का अर्थ

इस आत्म-शुद्धि का मतलब 'मन, वचन और काया से निर्विकार यानी राग-द्वेष से रहित होना है।' ('शुद्ध थवु अेटले मन थी, वचन थी ने काया थी निर्विकार थवु, रागद्वेपादिरहित थवु ") जवतक मनुष्य स्वार्थ और तृष्णा को नही छोडता तवतक वह ऊपर नही उठ सकता क्योकि तृष्णा से ही सव प्रकार की वासनाओ की सृष्टि होती है। इस सिलसिले का वर्णन करते हुए बुद्ध 'दीघ निकाय' के महानिदान सुत्तात मे कहते है –

"इति खो पनेत आनन्द वेदन पटिच्च तण्हा, तण्ह पटिच्च लाभो, लाभ पटिच्च विनिच्छयो, विनिच्छय पटिच्च छद रागो, छन्द राग पटिच्च अज्झोसान, अज्झोसान पटिच्च परिग्गहो, परिग्गह पटिच्च मच्छरिय, मच्छरिय पटिच्च आरक्खो, आरक्ख पटिच्च आरक्खाधिकरण दण्डादान-सत्थादान-कलह-विग्गह–विवाद–तुवतुव–पेसुञ्ज-मुसावादा अनेके पापका अकुसला धम्मा सभवन्तीति।"

अर्थात् "इस प्रमाण से, हे आनन्द, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से पर्यपणा, पर्यपणा से लाभ, लाभ से निश्चय निश्चय से आसक्ति, आसक्ति से अध्यवसान, अध्यवसान मे परिग्रह, परिग्रह से मात्सर्य, मात्सर्य से आरक्षा, आरक्षा से आरक्षाधिकरण–दण्डादान, शस्त्रादान, कलह, विग्रह, विवाद, तू, तू, मै, मै, पैशुन्य, असत्य भापण इत्यादि अनेक पापकारक अकुशल कार्यो का जन्म होता है।" मतलव यह कि पतन की श्रेणियो का एक दूसरे से सम्बन्ध है। जव तृणा आई तो अन्य प्रकार की वासनाएँ आयेगी। इसलिए आत्म-शुद्धि के हेतु गाधी दर्शन मे अपरिग्रह, अस्वाद, अस्तेय और इन्द्रिय-निग्रह इन चार यमो को वडा महत्व दिया है। लोभ और स्वार्थ का मूल ही काट देने की चेष्टा की गई है। परिग्रह, स्वाद और

इन्द्रियलिप्सा के ही कारण मनुष्य गिरता है और विश्व के साथ उसका संघर्ष होता है। वैसे तो शुद्ध अहिंसा में इन सब यम नियमों का समावेश हो जाता है पर अहिंसा को स्पष्ट कर देने और सजगता की दृष्टि से इन्हें अहिंसा के पहरेदार के रूप में रखा गया है।

प्रवृत्ति-निवृत्ति का समन्वय

इस प्रकार गांधी तत्त्वज्ञान का सिलसिला बैठता है। सत्य या आत्म-साक्षात्कार उसका ध्रुवतारा है। उसके लिए अहिंसा, अहिंसा के लिए आत्म-शुद्धि, आत्म-शुद्धि के लिए अपरिग्रह, अपरिग्रह के लिए ब्रह्मचर्य, ब्रह्मचर्य के लिए अस्वाद, अस्वाद के लिए अस्तेय आवश्यक है। इससे हम यह भी देख सकते है कि यद्यपि गांधी दर्शन का अन्त आध्यात्मिकता मे होता है पर अपने साधन, आचार और प्रणाली मे वह एक शुद्ध नैतिक साधना है। समस्त गांधीवाद नीति पर आश्रित है। वह जीवन की तात्विक पवित्रता मे विश्वास रखता है। दूसरी बात यह कि जीवन में प्रति पग पर आत्म-शुद्धि पर जोर देने के कारण वह कर्म और आचरण-प्रधान है। सामञ्जस्यमूलक होने के कारण गांधी तत्त्वज्ञान मे कर्म, श्रद्धा और ज्ञान तीनों का अद्भुत् समन्वय हुआ है। ऐसा समन्वय हमें और कही दिखाई नही पडता। गांधी तत्त्वज्ञान निवृत्ति मार्ग का अनुसरण नहीं करता, प्रवृत्ति को निवृत्तिमूलक बनाता है। या यों भी कह सकते है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच उसने एक मध्य रेखा स्थापित की है। उसने निवृत्ति की नीव पर प्रवृत्ति का भवन खड़ा किया है। निवृत्ति मार्ग का तप, त्याग, संयम सब उसने ले लिया और प्रवृत्ति या कर्म की शुद्धि मे उसका उपयोग किया है। इसीलिए उसने 'आत्मशुद्धि' और 'अनासक्त समाचार' का मार्ग पकडा है और मानता है

कि 'जिसे कर्म के विषय मे राग-द्वेष है वही बद्ध होता है।' इस प्रकार निवृत्ति का लाभ वह प्रवृत्ति को देता है और प्रवृत्ति को दूषित और लिप्त होने से बचा लेता है।

व्यक्ति और समाज के स्वार्थों का सामञ्जस्य

सस्कृति और दार्शनिक प्रवृत्ति दोनो मे उसने पूर्व और पश्चिम को मिला दिया है। मूलाधार तो भारतीय है पर पश्चिमी दर्शन के श्रेष्ठ तत्वो को भी उसने हजम कर लिया है। भारतीय तत्त्वज्ञान जीवन का आदर्श है। पाश्चात्य तत्त्वज्ञान जीवन की आलोचना है। पहला व्यक्ति-मूलक तथा अन्त मुखी और दूसरा समाजमूलक तथा बहिर्मुखी है। पहला केन्द्रोन्मुखी (सेट्रीपेटल), दूसरा केद्रापसारी (सेट्रीफ्यूगल) है। गान्धी तत्त्वज्ञान दोनो का समन्वय है। समाजशास्त्र की दृष्टि से भी गान्धीवाद की यह बहुत बड़ी सेवा है कि उसने व्यक्ति और समाज के बीच सघर्ष नही वरन् पूर्ण सामञ्जस्य की घोषणा की है। कदाचित् बुद्ध के बाद नीति को लेकर ससार की जटिल समस्या को हल करने का किसी तत्त्व-ज्ञान ने इतना विशाल प्रयत्न नही किया। इसलिए गान्धी सस्कृति और गान्धी दर्शन तत्त्वत समन्वय धर्म की पथ-प्रदर्शिका गीता की सस्कृति और गीता का तत्त्वज्ञान है। गीता के दूसरे अध्याय में ५४ से ७२ वे श्लोक तक गान्धी तत्त्वज्ञान का आधार हमे मिल जाता है। उस पर अपने सतत अनुभव, आचरण, निरीक्षण और परीक्षण से, कुछ परिवर्तन और परिवर्द्धन करके, गान्धी जी ने अपने जीवन के तात्विक आधार और अपने सिद्धान्तो की आध्यात्मिक भावना की सृष्टि की है। और विश्व को एक ऐसा तत्त्वज्ञान भेट किया है, जो उन्ही के शब्दो मे, 'किसी भौगोलिक बन्धन में बन्धा नही है' और जिससे मानव जाति प्रत्येक क्षेत्र और प्रत्येक युग में प्रकाश पा सकती है।

७

गांधीवाद और समाजवाद

[वैज्ञानिक अध्ययन और विश्लेषण]

" People clamour for revolutions in politics and society It is the human soul that must revolt "—Ibsen

" We seem to be living in the midst of a change not only of exterior circumstances but also of inner systems of values and of the symbols that go with them Among the various great movements in the world to-day, that led by Mahatma Gandhi shows the greatest amount of change of values and symbols And when such a change really takes place and becomes widely established, that will indeed be revolution * * * * As the two systems stand to day, it is easier for Gandhism to select, adopt and use the important parts of the programme of socialism than it is socialism to adopt the more important facts of Gandhism Thus of the two systems, Gandhism seems the more flexible and comprehensive, and therefore, probably more lasting "—

—Richard B Gregg

"लोग समाज एव राजनीति मे क्रांति के लिए शोर करते है। पर असल में तो मानवीय आत्मा को विद्रोह करना चाहिए।'—इब्सन।

"हम आज परिवर्तन के मध्य मे रह रहे है और यह केवल बाह्य परिस्थितियो का परिवर्तन नही है, वरन् उनके साथ होने वाले मूल्य एव प्रतीक की अन्त व्यवस्था का भी परिवर्तन है। आज ससार में जो कई महान् आन्दोलन हो रहे है, उनमें महात्मा गाँधी द्वारा प्रवर्तित आदोलन मूल्य एव प्रतीक मे सबसे अधिक परिवर्तन कर रहा है और जब वस्तुत ऐसा परिवर्तन हो जायगा और बडे पैमाने पर उसकी प्रतिष्ठा हो जायगी तो वह सचमुच क्रांति होगी। आज दोनो (गाधीवाद एव समाज-

वाद) प्रणालियाँ जिस रूप मे है, उनके अनुसार तो समाजवाद के लिए गाधीवाद के प्रधान अगो को ग्रहण एव हज़म करना उतना सरल नही है, जितना गाधीवाद के लिए समाजवाद के कार्यक्रम की प्रधान बातो का चुनाव, ग्रहण एव उपयोग कर लेना आसान है। इस प्रकार, इन दोनो व्यवस्थाओ मे, गाधीवाद अधिक फैलने वाला (लचीला) एव व्यापक है और इसीलिए अधिक टिकने वाला है।" —रिचर्ड बी० ग्रेग

[नोट—आज हमारी राजनीति के शोर-गुल मे हमारे युवको की विचार-शक्ति दब-सी गई है। जैसा कि अक्सर होता है, प्रवाह के आकर्षण ने उनको लुभा लिया है। न उनके पास इतना समय है, न इतना धैर्य है और न इतनी शक्ति है कि वे शान्ति के साथ किसी समस्या पर गूढ विचार कर सके। हमारे राष्ट्रीय जीवन में, बिना किसी गभीर अध्ययन के, कुछ भी कह डालने की जो चाल चल पडी है, उसका आरभ बडे जोश से साहित्य मे भी हुआ है। राजनीति का वक्ता साहित्य मे भी आया है। हम उसकी तीव्र निदाएँ, आकाशगामी महत्वाकाक्षाएँ और जिसे चाहे जहाँ बैठा देने की प्रवृत्ति को अब साहित्य में भी देखने लगे है। हमारी पत्रकार-कला पर चिंतन की अपेक्षा अग-भगी, अध्ययन की अपेक्षा प्रचार और सतुलन की अपेक्षा अतिवाद की छाप है। जो सर्वश्रेष्ठ 'पब्लिसिस्ट' (प्रचारक) है, वही हमारे यहा सर्वश्रेष्ठ 'जर्नलिस्ट' (पत्रकार) भी है।

इस तीव्र प्रवाह मे कौन ठहरने की हिम्मत करता है? कल का लिबरल मौका देख, आज एक ही छलाग मे, साम्यवादी बनना चहता है। कल का साहित्य पर एकछत्र सत्ता स्थापित करने का प्रस्ताव रखने वाला सम्पादक, ग्राहक बढाने के लिए, आज अराजकवाद एव समष्टिवाद का भक्त बना हुआ है। ऐसे विषम समय मे, जब असाधारण गति की, न

कि चितन एव विवेचन की, आँधी वह रही है, स्वभावत सत्य के ऊपर ससार की प्रचार-शक्ति की विजय हम देख रहे है। यदि ऐसा न होता, तो जिस गाधीवाद की विश्व को देन समाजवाद* से कम नही है और ऊँची हो तो आश्चर्य नही, वह यो हमारे नवयुवक लेखक वधुओ द्वारा 'फू' करके न उडा दिया गया होता। अपने को वुद्धिवादी कहकर भी, अपने ही कृत्यो द्वारा जो भयानक अपमान हम अपनी वुद्धि का कर रहे है, मनोविज्ञान के विद्यार्थी के लिए निश्चय ही वह मनोरजन की वस्तु है। परन्तु ऐसा होता ही रहा है। वुद्धिवाद के नाम पर चलाये गये 'स्कूल' आज अध श्रद्धा एव पाखड के केंद्र वन गये है।]

वर्तमान अर्थ-सिद्धान्त—इधर कुछ दिनो से, पत्र-पत्रिकाओ मे, गाधीवाद एव समाजवाद पर लेख आने लगे है। यह हर्ष की वात है, किंतु समीक्षा और तुलना मे वैज्ञानिकता का एकान्त अभाव देखकर दु ख होता है। एक युग से समाजवाद के ऊपर ससार मे साहित्य का निर्माण हो रहा है। पश्चिम से उसकी उत्पत्ति होने के कारण पश्चिम के ज्ञान की ज्यो-ज्यो हमारे गुलाम मस्तिष्क पर विजय हुई है त्यो-त्यो उसका भी प्रसार हुआ। हमारा अध्ययन प्राय पश्चिमी साहित्य तक सीमित है। हमारे स्कूलो एव कालेजो मे सर्वत्र अर्थशास्त्र के पाश्चात्य सिद्धान्तो की शिक्षा दी जाती है और सभी लेखक या पत्रकार देश की समृद्धि एव आर्थिक अवस्था के विषय मे विचार करते समय इन पाश्चात्य आर्थिक सिद्धान्तो का ही सहारा लेते है। यहाँ तक कि उन सिद्धान्तो को आज एकमात्र अर्थ-सिद्धान्तो का गौरव प्राप्त हुआ है। हम जव समाज-निर्माण की वात करते है, तो निश्चय ही हमारा ध्यान, जो पाश्चात्य आर्थिक सिद्धान्त

*इस लेख में सर्वत्र समाजवाद शब्द 'सोशलिज्म' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। —लेखक

हमे आरभ से पढाये गये है और जो अब हमारे दिमाग पर काबू किये हुए है, उन्ही मे केद्रित रहता है। इसलिए समाजवाद और साम्यवाद की ओर हमारा झुकना, वर्तमान मानमिक स्थिति मे, स्वाभाविक है। फिर ममाजवाद पर वातचीत करते ममय हमारे सामने एक शक्तिमान स्वतत्र राष्ट्र—रूम—का चित्र रहता है, जब गावीवाद के सामने इम प्रकार का कोई माम्राज्य नही। मानव-स्वभाव की दुर्बलता के कारण, मैनिकता एव साम्राज्यवाद के विरोधी भी, माम्रज्यवाद के विनाश के नाम पर स्थापित नूतन मम्रज्यवाद की विजय देख पागल हो जाते है—यदि पागल नही तो कम-मे-कम उससे प्रभावित अवश्य होते है, इमलिए गावीवाद एव समाजवाद पर विचार करते समय, उनके विचारो पर सदैव रूम की छाया रहती है और निष्पक्ष चिंतन कठिन होजाता है।

तुलना में कठिनाई—गाधीवाद एव समाजवाद की तुलना मे एक और बहुत बडी कठिनाई है। साम्यवाद या समाजवाद केवल पुस्तको के बल पर ममझा जा सकता है, क्योकि वह एक विशेष मामाजिक अर्थ-व्यवस्था का द्योतक है। उसकी 'थियरी' (सिद्धान्त) निश्चित है। गाधीवाद एक व्यापक सिद्धान्त-समूह है, जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को छूता है। वह जीवन की एक विशेष सुमस्कृत प्रवृत्ति (आटिट्यूड) का द्योतक है। उसमे राजनीति, ममाजनीति, धर्मनीति एव अध्यात्म सवका समावेश है और वह जीवन की ऐसी माधना है, जिसका महत्त्व 'थियरी' (सिद्धान्त) की अपेक्षा उसके आचरण (प्रैक्टिस) में ही अधिक है। कोई मनुष्य गाधीवाद को तबतक पूर्णत नही समझ सकता, जबतक उसने उसके अनुसार एक विशेष जीवन-क्रम को ग्रहण न कर लिया हो, जब तक उसने अपन सारा व्यक्तिगत जीवन भी उस साँचे मे ढाल न लिया हो। गाधीवाद मे व्यक्तिगत एव सामाजिक जीवन के आचरण की

विभाजक सिद्धान्त-रेखा नही है। उसमे इनके अलग-अलग टुकडे नही है। गाधीवाद मे मन-वचन और कर्म अथवा व्यक्तिगत एव सामाजिक जीवन की एकरूपता, एकरसता, एकमयता आवश्यक है। जब एक समाजवादी का जीवन-यापन का प्रकार उन मजदूरो एव किसानो के औसत जीवन से बिल्कुल भिन्न, विलासितामय भी, हो सकता है, तब शुद्ध गाधीवादी के लिए सीधा-सदा अपरिग्रहपूर्ण जीवन बिताना आवश्यक है। गाधीवाद अपने साधको से उन लोगो के निकट सम्पर्क मे आने की आशा करता है जिनकी सेवा करने का वे दम भरे। इस प्रकार वह समाज के आदृत वर्ग और दीन वर्ग के बीच की खाई को न केवल वाणी, वरन् व्यवहार से भी, भरना चाहता है। मतलब यह कि गाधीवाद पूर्णत केवल लिखित सिद्धान्तो के बल पर नही समझा जा सकता।

गाधीवाद और समाजवाद की समानताएँ

गाधीवाद और समाजवाद दोनो के प्रवर्तको के हृदय मे पीडित विश्व के लिए जो गहरी समवेदना है, उसीसे इनका जन्म हुआ है। इस-लिए स्वभावत अनेक बातो मे दोनो की आश्चर्यजनक समता है। मुख्य समानताएँ ये है —

१ गाधीवाद एव समाजवाद दोनो ही समाज की वर्तमान व्यवस्था से असतुष्ट है।

२ दोनो ही वस्तुओ के सम्बन्ध मे नया दृष्टिकोण लेकर चलते है।

३ दोनो ही प्रत्येक वस्तु का नया मूल्य आकना चाहते है।

४ दोनो ही क्रान्तिकारी और विप्लवी है।

५ दोनो का उद्देश्य है कि ससार मे प्रत्येक प्राणी को पेट-भर रोटी और जरूरत-भर कपडा तथा जीवन-यापन की अन्य आवश्यक

मामग्री प्राप्त हो तथा उसे अपनी प्रतिभा का विकास करने के मब माधन सुलभ हो।

६ दोनो ममाज की विपमता दूर करने को उत्सुक है तथा ममाज के भिन्न वर्गो के बीच जो एक दुर्लध्य खाई आ गई है, दोनो उमे भरना चाहते है।

७ इन दोनो वादो के प्रवर्त्तको के हृदय मे पीडित, शृखलावद्ध तथा दलित जनता की मुक्ति और उत्थान की ज्वाला है।

८ दोनो राजनीतिक स्वाधीनता के साथ आर्थिक स्वतत्रता के भी समर्थक है।

९ दोनो का स्वराज्य छोटे-से-छोटे और नगण्य सबके लिए है।

१० दोनो सीधे युद्ध की प्रणाली (Direct Action) मे विश्वास रखते है।

गाधीवाद समन्वयात्मक है—पर इन ममानताओ के होते हुए भी, दोनो के दृष्टिकोण, लक्ष्य की दूरी और साधनो में महत्त्वपूर्ण अन्तर है। और ये अन्तर ऐसे है कि सब मिलाकर दोनो विपम-से लगते है। गाधीवाद का लक्ष्य जहाँ व्यक्ति का विकास वा उसकी मुक्ति और समष्टि की पुष्टि दोनो है, तहाँ समाजवाद व्यक्ति की उतनी चिन्ता नही करता। उमका दृष्टिकोण केवल ममष्टिगत है। इस दृष्टि से एक सीमा तक समता होते हुए भी गाधीवाद की अपेक्षा समाजवाद अधिक अपूर्ण है। **गांधीवाद समन्वयात्मक धर्म है, जब समाजवाद विभेदात्मक है।**

गाधीवाद की भाति, समाजवाद के मूल मे भी सामान्य जन-समूह की सेवा का भाव है। इस सेवा को सार्थक और स्थायी करने के लिए दोनो ही ससार की वर्तमान व्यवस्था मे अधिक सामाजिक एव आर्थिक न्याय और ममता लाना चाहते है। दोनो ही नवीन दृष्टियो से सब

वस्तुओ पर विचार करते है एव उनका फिर से मूल्य आँकना चाहते है।

वर्तमान अर्थ-व्यवस्था के विरोधी—ससार में आज जो विषम अर्थ-व्यवस्था चल रही है, दोनो उसके विरुद्ध एक नयी अर्थ-भावना पैदा कर रहे है। यहाँ यह बात समझ लेनी चाहिए कि किसी भी अर्थ-व्यवस्था का अस्तित्त्व समाज मे फैली हुई उसकी साख एव उसके प्रति विश्वास और श्रद्धा पर निर्भर है। गाधीवाद और समाजवाद दोनो, वर्तमान अर्थ-व्यवस्था की साख एव उसके प्रति जन-साधारण मे जो विश्वास है, उसे कमजोर बना रहे है और नये मूल्याधार तथा नई साख (a new set of values and credits) का निर्माण कर रहे है। समाज-वाद ने अपने समता के सिद्धान्त के द्वारा समाज के वर्तमान विषम विभाजन और समाज मे ऊँच-नीच के भाव एव अहकार को दूर करने का प्रयत्न किया है। गाधीवाद भी समाज-निर्माण तथा समाज के श्रम-विभाजन मे मनुष्य की तात्त्विक एव सामाजिक समता पर जोर देता है और आर्थिक विषमता को हटाकर अधिक-से-अधिक आर्थिक समानता पैदा करना चाहता है। वह समाज मे ऊँच-नीच के वर्गीकरण का प्रबल विरोधी है और उसकी परिधि मे अलग-अलग काम करते हुए प्रत्येक वर्ग का सम महत्त्व है।

इसीलिए गाधीवाद एव समाजवाद दोनो ने पिछडी एव गिरी हुई जातियो को आश्वासन दिया है और दोनो ने उनकी टूटती हुई आशाओ को पुन जगाया है। दोनो ने सर्वसाधारण को अपनी शक्ति को अनुभव करने और अपने उद्धार एव उत्थान मे उसका उपयोग करने का अवसर दिया है तथा उनके आत्म-विश्वास को पुष्ट एव विकसित किया है। सर्वसाधारण के लिए दोनो आन्दोलनो मे पर्याप्त आश्वासन और अपील है।

गांधीवाद और समाजवाद

कौन अधिक क्रान्तिकारी और श्रेष्ठ है ?

गांधीवाद अराजक है—भारत में प्राय समाजवाद को क्रान्तिकारी एवं गांधीवाद को प्रतिक्रियावादी (reactionary) कहने का सस्ता फैशन चल निकला है। उसका कारण यह है कि हमने क्रान्ति शब्द सुना तो है और उसे ग्रहण भी कर लिया है पर उसका अर्थ समझने और उसपर गंभीरतापूर्वक विचार करने का प्रयत्न हम नहीं करते। केवल ऊपरी बातों को ले लेते हैं और तत्त्व की बातों पर विचार ही नहीं करते। गांधीवाद को प्रतिक्रियात्मक कहना इसका एक प्रबल प्रमाण है। मुझे याद है, एक बार जवाहरलाल ने कहा था—'गांधीवाद बहुत आगे की चीज है' और अभी-अभी (१९३६ मार्च) उन्होंने लन्दन में कहा था कि गांधी जी एक प्रबल क्रान्तिकारी हैं। गांधीवाद को प्रतिक्रियात्मक कहते सुनकर किसी भी विचारक को केवल हंसी आ सकती है। जो लोग समाजवाद को गांधीवाद से अधिक क्रांतिकारी समझते हैं वे भ्रम में हैं। समाजवाद (विशेषत रूस में उसका जो रूप हम देखते हैं) अपनी सफलता के लिए प्राय उन्हीं साधनों पर निर्भर करता है जिनपर साम्राज्यवाद निर्भर है। वह साम्राज्यवाद की भांति ही, सैनिक एवं पुलिस की हिंसा की सहायता लेता है और समाज के नियंत्रण के लिए उसके पास वे ही साधन हैं, जो साम्राज्यवाद के पास हैं। गांधीवाद इस प्रकार की किसी हिंसा का आश्रय नहीं लेता, वरन् वह साम्राज्यवाद के इस हिंसक साधन एवं आधार को तोड़कर उसके स्थान पर एक बिलकुल ही नवीन आधार एवं साधन कायम करना चाहता है। इस दृष्टि से वह स्पष्टत समाज-व्यवस्था के भाव-मूल में कहीं अधिक क्रांतिकारी परिवर्तन करना चाहता है। समाजवाद जब वहीं मनुष्य को जानवर समझकर और उसकी

वही पुरानी मनोवृत्ति लेकर चलना चाहता है, तव गाधीवाद सम्पूर्णत उस हिंसा की शक्ति की अनिवार्यता को चुनौती देकर एक नवीन मानसिक निर्माण के आधार पर समाज की रचना करना चाहता है। इसके लिए यह समाजवादो के लिए आवश्यक सैनिकता की साख की जगह उससे कही क्रातिकारी और श्रेष्ठतर साख की स्थापना करना चाहता है। अभीतक ससार की समस्त शासन-पद्धतियाँ एव समाज-व्यवस्थाएँ हिंसा के आधार पर ही सघटित हुई है। इसमे समाजवाद एव साम्राज्यवाद दोनो का जो वर्तमानरूप है, वह हिंसा के ऊपर ही खडा है, उनकी सफलता हिंसा के ऊपर ही आश्रित है। जव रूप मे परिवर्तन होगया है, तव भी दोनो के (शक्ति ग्रहण करने के) स्रोत एक है। इस विषय मे स्पष्टत गाधीवाद अधिक क्रातिकारी है। वह समाजवाद की अपेक्षा कही नवीन आधार पर समाज का निर्माण करना चाहता है। यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि जिस शासन-पद्धति मे प्रजा पर जितने ही कम नियत्रण एव कानून की जरूरत पडती है, वह उतनी ही विकसित, परिपूर्ण एव श्रेष्ठ है। इस दृष्टि से भी सैनिक हिंसा या सैनिक वल पर प्रतिष्ठित समाज-पद्धति या शासन-व्यवस्था की अपेक्षा अहिंसा के आधार पर प्रतिष्ठित समाज-पद्धति या शासन-व्यवस्था श्रेष्ठ है। गाधीवाद समाजवाद के वहुत आगे जाना चाहता है और वह एक प्रकार का अराजकवाद (एनार्किज्म) है।

व्यवस्था के मूल में—प्रत्येक सगठन, व्यवस्था या शासन का आधार क्या है? अपनी इकाइयो या घटको (units) की वफादारी। परन्तु जहाँ यह वफादारी स्वप्रसूत हो, विना जोर-जवरदस्ती के हो, वही वह स्थायी हो सकती है और वही व्यवस्था अधिक अच्छी तरह चल सकती है। जहाँ यह व्यवस्था इकाइयो अथवा घटको (units) की सर्वथैव स्वेच्छा-

कन स्वीकृति पर नहीं, वरन् किसी बाहरी दबाव—'फोर्स'—पर निर्भर है, वहाँ उसका स्पष्ट अर्थ यह है कि वह वफादारी, जबरदस्ती, उग-समाकर, कायम की गई है और उसे कायम रखने के लिए जोर-जबर्दस्ती की आवश्यकता बनी रहेगी अथवा वह तबतक ही चलेगी जबतक उस जबर्दस्ती के साधनों में दुर्बलता नहीं आती या जबतक इकाइयों अथवा घटकों में उस शक्ति का भय बना है और उनमें उस जबर्दस्ती के प्रति विद्रोह करने की शक्ति नहीं है। संसार में प्रत्येक प्रकार के सैनिकवाद (Militarism) का जन्म इसी जोर-जबर्दस्ती से अपने सिद्धान्तों को मनवाने की भावना एवं स्थिति से होता है और इसी कारण समाज में सदैव असन्तोष एवं विद्रोह के कारण बने रहते हैं। जो शासन या तंत्र जितनी ही अधिक मात्रा में सैनिकता के बल पर प्रतिष्ठित होगा, उसमें विद्रोह के उतने ही अधिक कारण मौजूद होंगे। समाज-व्यवस्था के इस तात्त्विक सिद्धान्त पर विचार करने पर मानना पड़ता है कि गांधीवाद जिस तंत्र या समाज-व्यवस्था को प्रतिष्ठित करना चाहता है, उसमें समन्वयात्मक शक्तियाँ अधिक श्रेष्ठ हैं और उसमें अधिक स्थायी एवं स्वेच्छापूर्ण वफादारी पाई जा सकती है।

समाज-निर्माण में प्रतीक का महत्त्व और गांधीवाद द्वारा उसका श्रेष्ठतर उपयोग

मनोविज्ञान का विद्यार्थी जानता है कि प्रतीक (symbols), प्रेरणा के रूप में, समाज-निर्माण में बहुत बड़ा भाग लेते हैं। जन-मन पर प्रतीकों का अमित प्रभाव पड़ता है। गांधीवाद ने अपने उद्देश्य के सिद्धि के लिए प्रभावशाली प्रतीकों का निर्माण किया है। चरखा और खादी क्या है? ये वे प्रतीक हैं, जिनके द्वारा समाज-श्रेणी की विषमता दूर करके

सामाजिक ऐक्य पैदा करने का प्रयत्न किया गया है। वेश-भूषा पर प्रतिष्ठित श्रेणी-भेद को खादी निर्मूल करती है और, एक सीमा तक, ऊँच-नीच की सामाजिक भावना को कम करती है। यह विलासिता की ओर ले जाने वाली प्रवृत्तियो पर एक अकुश है (It is a great leveller of tendencies) समाज मे अभीतक वस्त्र-सम्बन्धी बडप्पन की भावना रही है, उसपर इसने प्रबल प्रहार किया है। समाजवाद मे इस प्रकार का कोई प्रतीकात्मक (symbolic) नियत्रण नही है। यह ठीक है कि रूस मे भी लोग सीधे-सादे वस्त्र पहनते है, पर उसका कारण आर्थिक कठिनाई और आवश्यकता है, जब खादी ऊँच-नीच की सामाजिक भावना एव अर्थमूलक सामाजिक विषमता को नाश करनेवाले प्रतीक के रूप मे अपनाई गई है। गाधीवाद मे खादी आवश्यक है, जब समाजवाद मे इस प्रकार के विषमतानाशक सरल वेश-विन्यास को कोई प्रतीकात्मक महत्व प्राप्त नही है। सच पूछिए तो वस्त्रो की मर्यादा और विषमता से सामाजिक मर्यादा और विषमता का जो मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध है, उसे समाजवाद ने समझा ही नही है। रूस के बाहर—जर्मनी, इग्लैड फ्रास, अमेरिका—के, एव एक सीमा तक रूस के भी, समाजवादियो ने अपनी जीवन-विधि एव सामाजिक मर्यादा का सम्पूर्ण मनोवैज्ञानिक आधार वही रखा है, जो साम्राज्यवादियो का है। दोनो हिंसा (सैनिक बल) और घृणा के ऊपर आश्रित है। समाजवाद सत्ताधारी वर्ग के उन्मूलन के लिए, उनके प्रति घृणा फैलाकर, अपना कार्य सिद्ध करना चाहता है, पर खादी के मूल मे दीन एव दलित समूह के प्रति सहानुभूति एव प्रेम की भावना है। समाजवाद सत्ताधारी वर्ग के प्रति घृणा फैलाकर जो कुछ करना चाहता है, वही गाधीवाद (खादी को अपनाकर) दलित एव दीन समूह के प्रति प्रेम एव सहानुभूति का सन्देश देते हुए करना चाहता है। समाजवाद

एक वर्ग-विशेष के प्रति विनाशात्मक प्रवृत्ति रखता है और गाधीवाद सर्वसाधारण के प्रति रचनात्मक प्रवृत्ति रखता है।

विस्तृत अपील और अनुभव की एकता--इसके अतिरिक्त खादी का यह प्रतीकात्मक साधन कुछ ऐसा है कि वह प्रत्येक व्यक्ति को गाधीवाद द्वारा निर्दिष्ट समाज-रचना मे नित्य सहायक होने का मार्ग स्पष्ट कर देता है। इस नवीन समाज-विधान एव अर्थ-व्यवस्था के निर्माण मे, प्रयेक व्यक्ति, चरखा चलाकर या खादी पहनकर, सहायक हो सकता है और प्रयेक के सामने समाज-सेवा का एक अत्यन्त सुलभ एव सरल मार्ग है। छोटे-बडे, धनी-निर्धन प्रत्येक व्यक्ति से गाधीवाद इस कार्य मे हाथ बटाने की आशा कर सकता है। उसकी 'अपील' अधिक विस्तृत और व्यापक है। यहाँ हम यह भी देखते है कि गाधीवाद मे वचन एव कर्म की एकता है। गाधीवाद अपने प्रत्येक अनुयायी से शरीर-श्रम (बौद्धिक श्रम नही) की उम्मीद करता है, जब समाजवाद मुख्यत मजूरो का पृष्ठपोषक होने की घोषणा करके भी, अपने अनुयायियो से मजूर-जीवन के निजी व्यावहारिक अनुभव एव अनुभव की एकता की अनिवार्य आशा नही रख सकता। अमेरिकन लेखक और विचारक, श्री रिचर्ड बी. ग्रेगने इस बात का जिक्र करते हुए ठीक ही लिखा है—"If socialism is primarily a programme for the manual worker, who make up the mass of the people, then those who profess it ought all to do some manual work, both as a symbol and so as to develop, through a common experience, a unity of attitude and understanding" अर्थात् "यदि समाजवाद मुख्यत शरीर-श्रमिको (जिनकी समाज मे सब से अधिक सख्या है) का कार्यक्रम है, तो उसके अनुयायियो मे से प्रत्येक का धर्म है कि कुछ-न-कुछ शरीर-श्रम करे—एक प्रतीक की दृष्टि से और इसलिए भी कि सर्वनिष्ठ (Common) अनुभव

द्वारा आचरण एव विश्वास की एकता का विकास हो ।" इस प्रकार एक जीवन-क्रम की अनुभूति लाने एव उसे घनीभूत करने के लिए गांधीवाद दैनिक अभ्यास एव कार्य की व्यवस्था करता है । वह अभ्यास-द्वारा धीरे-धीरे एक ऐसी जीवनचर्या का निर्माण करता है, जिसमे दीन-वर्ग (मजूर, किसान आदि) एव विशिष्ट-वर्ग के बीच का अन्तर बहुत कम होजाता है । एक बात यह भी है कि गांधीवाद तत्क्षण प्रत्येक के लिए समाज की सेवा एव भलाई का एक मार्ग प्रदान करता है और ऐसा करते हुए भी वह समाज-सेवा की अन्य विधियो मे हस्तक्षेप नही करता । वह प्रत्येक को, अपनी जीविका या निश्चित कार्य मे हस्तक्षेप किये बिना, नूतन समाज-निर्माण मे सहायक होने का मौका देता है । स्त्रियां, अपना घर छोडे बिना, चर्खा चलाकर, खादी पहनकर अथवा अपरिग्रह के द्वारा, इसमे सहायक हो सकती है । बच्चे, बूढे, जवान, पगु तथा ऐसे लोग भी जो सरकार या सगठित सत्ता के विरुद्ध स्पष्टत खडे नही हो सकते पर जिनमे अपनी मातृभूमि के प्रति अथवा दीन वर्ग के प्रति प्रेम और सहानुभूति है, मतलब सभी तरह और स्थितियो के आदमी गांधीजी के कार्य-क्रम में कुछ-न-कुछ सहायता कर सकते है । गांधीवाद उस सूर्य की भाति है, जिससे सब रोशनी ले सकते है, उस आकाश की भाति है, जिसके नीचे सब सो सकते है और उस धर्म की भाति है जिसे सब अपना सकते है और जिसकी स्थापना मे सब सहायक हो सकते है । गांधीवाद जीवन का एक परिपूर्ण तत्त्वज्ञान (A comprehensive philosophy of life) है । यह नैतिक है और यह राजनीतिक भी है, धार्मिक भी है, आध्यात्मिक भी है और आर्थिक भी है क्योकि यह जीवनव्यापी है, जीवन के प्रत्येक स्तर और सम्पूर्ण मानव-जाति को स्पर्श करता है । श्री ग्रेग के शब्दो मे ("It provides a common bond between all groups")

'वह सभी वर्गों के बीच एक सामान्य स्नेहसूत्र पैदा करता है।'

क्या गांधीवाद अव्यावहारिक है ?—कुछ लोग यह भी कहते सुने जाते हैं कि गांधीवाद अव्यावहारिक है। इससे बढ़कर भ्रमात्मक बात नहीं हो सकती। जो वाद कार्य एवं वाणी की एकता पर सबसे अधिक जोर देता हो, वह अव्यावहारिक हो कैसे सकता है ? गांधीवाद तो सैद्धान्तिक (Theoritical or academic) की अपेक्षा व्यावहारिक ही, आचार-प्रधान ही अधिक है। सच तो यह है कि इतना सब जो मैं लिख रहा हूँ, गांधीवाद की स्फुट रूप-रेखा मात्र है, ये सब उस चीज के टुकड़े हैं। वाणी या लेखनी की भाषा में वह पूरी तरह न समझा जा सकता है, न समझाया जा सकता है, उसकी एक झलक-भर दी जा सकती है। उसके लिए सर्वोत्तम भाषा कार्य की ही भाषा है। उसके जो कार्यक्रम हैं, उन्हीं में वह प्रकट होता है। इसके विरुद्ध समाजवादी के नित्य के आचरण द्वारा समाजवाद के कार्यक्रम में सहायक होने की बिलकुल सुविधा नहीं है। रूस के बाहर रहनेवाले विराट मनुष्य-समुदाय के लिए समाजवाद या साम्यवाद के सम्बन्ध में काम करने का एक ही सर्व-सुलभ साधन है और वह यह कि वाणी या लेखनी द्वारा उसका प्रचार करे या सभाओं में जाकर उसपर बोलनेवाले वक्ताओं के व्याख्यान सुने और पत्र-पुस्तकों में उसका अध्ययन करे। गांधीवाद अपने अनुयायियों या प्रशंसकों को कहीं अधिक व्यावहारिक एवं प्रत्यक्ष रचनात्मक मार्ग एवं साधन प्रदान करता है। खादी का ही कार्यक्रम लेलीजिए। सैद्धान्तिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रभाव के अतिरिक्त यह देश के कोटि-कोटि आदमियों को, जिनमें भयंकर बेकारी और गरीबी है, तुरन्त सहायक सिद्ध होनेवाला एक अतिरिक्त धन्धा देता है। यह उनके समय के अपव्यय को रोकता है और बेकारी से फैलनेवाली अनेक कुरीतियों एवं कुविचारों तथा कृत्यों

से व्यक्ति एव समाज को बचाता है। इन बेकार आदमियो की तुरन्त की गरीबी एव आवश्यकता की समस्या को भी, कुछ अश मे, हल करने का प्रयत्न करता है। इसके विरुद्ध समाजवाद या साम्यवाद अपनी सफलता के लिए इनकी गरीबी और इनके कष्ट बढाना चाहता है। उनके दु ख को सीमा तक पहुँचा देना (ताकि प्रतिक्रिया उत्पन्न हो सके), उसके ओजस्वी (dynamic) कार्यक्रम का एक अग है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह इस बात का द्योतक है कि समाजवाद की नीव बडी कमजोर है और वह मानव जाति का कोई शाश्वत विज्ञान या स्थायी कार्यक्रम नही होसकता, वरन् एक विशेष अवस्था मे, असह्य दु ख एव कष्ट से पैदा होनेवाली आन्दोलित मन (Unbalanced mind) की चिढ एव प्रतिक्रिया का द्योतक है। वह आपद्धर्म है। समाजवाद की सफलता के लिए समाज मे भयकर बेकारी, गरीबी, होड और शोषण का होना आवश्यक है। उसकी सफलता समाज की एक दु खद अवस्था पर निर्भर है, जब गाधीवाद प्रत्येक समय और प्रत्येक अवस्था मे व्यवहार्य है और जीवन की प्रत्येक दिशा मे, समाज के प्रत्येक कार्य-क्षेत्र मे उसका प्रयोग किया जा सकता है। गाधीवाद की इस विशिष्टता का कारण यह है कि जहाँ साम्यवाद, सब मिलाकर, केवल आर्थिक दृष्टिकोण को प्रधानता देता है और उसी के आधार पर समाज का निर्माण करना चाहता है, तहाँ गाधीवाद आर्थिक ही नही, नैतिक और सामाजिक दोनो—मतलब सम्पूर्ण मानवीय—दृष्टिकोण को लेकर चलता है और उन सबके समन्वयात्मक आधार पर समाज का निर्माण चाहता है। थोडे मे यो भी कह सकते है कि समाजवाद विभेदात्मक, विश्लेषणात्मक है और इसी कारण विनाशात्मक अधिक है, जब गाधीवाद समन्वयात्मक, सामञ्जस्यात्मक है और इसी कारण रचनात्मक अधिक है। समाजवाद सम्पूर्ण मानव-जीवन को स्पर्श नही करता, न उसकी

सम्पूर्ण समस्याओं का कोई हल रखता है। वह जीवन की समस्याओ से सम्बन्ध रखने वाले आन्दोलन-समूह का एक अग-मात्र है, जब गाधीवाद जीवन की प्रत्येक दिशा मे अपना हल और अपना समाधान लेकर चलता है। गाधीवाद केन्द्रोन्मुखी (Centripetal) अधिक है, पर उचित सीमा तक केन्द्रापसारी भी है या यो कहे कि वह भावना (Spirit) एव आध्यात्मिक प्रवृत्ति में केन्द्रोन्मुखी और समाजहित के आर्थिक साधनो के बँटवारे के विषय मे केन्द्रापसारी (Centrifugal) है, जब समाजवाद केवल केन्द्रापसारी है। गाधीवाद व्यक्ति को अपनी पूर्ण—नैतिक, आध्यात्मिक-उन्नति का मौका देकर भी समाज-हित को नही भूलता, जब समाजवाद में व्यक्ति की कोई स्वतन्त्र सत्ता ही नही है, वह समाज की एक इकाई या घटक (Unit) मात्र है।

वर्तमान का त्राता और भविष्य का निर्माता—भारत को ले तो अपनी प्रकृति के कारण ही गाधीवाद जब भारत की घोर गरीबी और बेकारी का एक हल (फिर चाहे वह आशिक और अपूर्ण ही हो), चर्खा और खादी के रूप में, रखता है तब समाजवाद के पास देश के सर्व-साधारण मे फैली भयकर गरीबी और बेकारी का कोई इस समय काम देनेवाला—'इमीजियेट'—हल नही है। वह तुरन्त कोई उपाय, या हमारे कष्टो को दूर करने का कार्यक्रम, हमारे सामने नही रखता। जैसे उसका हमारे वर्तमान से सम्बन्ध ही नही है—वह सब सुदूर भविष्य की बाते करता है। वह उस काल्पनिक स्वर्ग के स्वप्न दिखाता है, जब एकाएक ससार की जनता विद्रोह कर उठेगी और ससार मे आनन्द छा जायगा। तब तक वह ससार का कष्ट और दुःख बढाने के लिए एक ओर शोषक वर्ग की शोषण-वृत्ति को मन ही मन धन्यवाद देगा और दूसरी ओर शोषक वर्ग के विरुद्ध जनता मे प्रचार करेगा। एक माँ का बच्चा भूख

से छटपटा रहा है, उसकी भूख तुरत हल चाहती है परन्तु समाजवादी के पास उसका कोई हल नही है। उसका हल बच्चे के जीने की अपेक्षा भूख से घुट-घुटकर उसके मर जाने पर अधिक निर्भर है, क्योंकि इससे माता के हृदय मे वर्तमान समाज के प्रति क्षोभ उत्पन्न होगा और कल्पित क्रान्ति नजदीक आयेगी। यह डाक्टर की सफलता के लिए रोग बढाने की नीति है। मुझे याद है कि १९३५ के अत या ३६ के आरम्भ मे प्रसिद्ध समाजवादी मराठी कवि और लेखक (तथा उस समय भारतीय काँग्रेस सोशलिस्ट दल की कार्य समिति के एक सदस्य), श्री पी० वाई० देशपाडे ने, अपने एक लेख* मे, इसी आधार पर, समाज-सेवा के सभी प्रकार के कार्यो को अनावश्यक एव प्रतिक्रियात्मक बताया था। उनके विचार से ग्राम-सेवा, किसानो के कष्ट दूर करने के प्रयत्न, बिहार-भूकम्प की सेवाये सभी अनावश्यक एव प्रतिक्रियात्मक है। इनकी क्रान्ति को नजदीक लाने के लिए हम सब को सब कार्य बद कर देने चाहिएँ। समस्त क्रान्तिकारी समाजवादियो की सर्वत्र यही नीति रही है जिसका निर्देश श्री देशपाँडे ने किया है, क्योकि समाज-सेवा के अथवा पीडितो की पीडा दूर करने के प्रत्येक कार्य से उनकी क्रान्ति की गति रुकती है। यह कुछ इस प्रकार की बात हुई कि वे चाहते हैं, हमारी क्राति सफल हो इसलिए लोगो के दु ख मे तेज़ी से वृद्धि हो। सच्ची बात तो यह है कि चर्खा और खादी-जैसे साम्यभाव लाने वाले या कम-से-कम साम्यभाव के प्रवर्तक प्रतीक के प्रति समाजवादियो एव साम्य-वादियो मे जो इतनी उपेक्षा है, उलटे मिल के एव अवसर पडने पर विदेशी कपडे तक पहनने की जो प्रवृत्ति है, वह इसी नीति और भावना का फल है। मतलब यह कि गाधीवाद जब वर्तमान और भविष्य दोनो का

*अग्रेजी 'हितवाद' नागपुर में यह लेख निकला था।

कार्यक्रम है, तब समाजवाद तुरन्त (इमीजियेट) को छोड देता है, उसके द्वारा सुझाये हुए परिवर्तनो की सिद्धि के लिए किसी नीति को कार्यान्वित करना दूर का, लम्बा रास्ता है और उसमें समय भी अधिक लगता है। वही बातें गाधीवाद अपने निज के व्यावहारिक आदर्शो से शीघ्र करने का दावा करता है।

गाधीवाद का एक सच्चा अनुयायी व्यक्तिश तो करीब-करीब उस 'स्टेज' पर पहुँच चुका होता है, जिसकी कल्पना समाज-रचना के विषय में समाजवाद करता है। एक गाधीवादी साधक ने अपरिग्रह को अपनाकर अपनी आवश्यकताएँ कम कर दी है, वह मोटा खाता, मोटा पहनता है। वह गांवो का-सा जीवन बिताता है अथवा सच्चाई से बिताने में प्रयत्नशील है वह तीसरे दर्जे मे रेल की यात्रा करता है और अपने सार्वजनिक कार्यो एव यात्राओ मे कम-से-कम खर्च करता है। मतलब यह कि या तो उसने किसान-मजदूर की और अपनी जीवन-मर्यादा को एक-सा कर लिया है या एक-सा करने में प्रयत्नशील है और प्रतिदिन दोनो के बीच की विषमता को न केवल वाणी, वरन् व्यवहार से दूर कर रहा है। समाजवादी अथवा साम्यवादी के लिए ऐसा होना अनिवार्य नही है। इसका कारण यह है कि जहाँ गाधीवाद में व्यक्ति के लिए अपने सिद्धान्तो के अनुसार जीवन यापन करना पहली शर्त है, पहले वह स्वय वैसा करे, फिर समाज को कहे, तहाँ समाजवाद व्यक्तिगत प्रयत्नो को कोई महत्त्व नही देता, वह केवल समष्टिगत प्रयत्नो मे विश्वास करता है। पर समाजवाद यहाँ यह भूल जाता है कि कार्यकर्ता (व्यक्ति) का जीवन उसके सिद्धान्तो का प्रतीक ('सिम्बल') है और प्रत्येक आदोलन में इन प्रतीको का महत्व है। और सर्वसाधारण पर उनका अत्यधिक मनोवैज्ञानिक प्रभाव पडता है।

समाजवाद की भूल—फिर समाजवाद यह भी भल जाता है कि समष्टि व्यष्टि का ही एक विकसित और प्रलम्बित (extended and prolonged) रूप है। व्यक्ति न केवल समाज का एक घटक ('यूनिट') है, वरन् वह उस समाज का निर्माता भी है। व्यक्ति ने अपने श्रेष्ठतर स्वार्थों (finer interests) एव सुख-सुविधाओ के लिए समाज का निर्माण किया है। मूल वस्तु व्यक्ति है, समाज नही। समाज शरीर है, व्यक्ति प्राण है। समाज व्यक्ति का फैला हुआ रूप है और व्यक्ति के अन्दर जो केन्द्रापसारी तत्त्व है, उनके कारण विकसित हुआ है। समाज वृक्ष है तो व्यक्ति उसका मूल है। इसलिए व्यक्ति के अच्छे-बुरे होने पर समाज का अच्छा-बुरा निर्भर है। भारतीय और ग्रीक सभ्यता के दृष्टिकोण मे यह एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण अन्तर रहा है। पहली मुख्यत केन्द्रोन्मुखी और दूसरी मुख्यत केन्द्रापसारी है। पहली आत्म-परिष्कार, आत्म-दर्शन, आत्म-निमज्जन पर, जोर देती है और दूसरी समाज-सेवा एव लोकोपकार पर। परन्तु पहले दृष्टिकोण मे जहाँ दूसरा सन्निविष्ट है, तहाँ दूसरे मे पहला नही है। युरोपीय दृष्टिकोण से निर्मित समाज मे किसी व्यक्ति का आचरण बुरा होते हुए भी, वह पहले उसे सुधारकर आगे बढने की जगह दूसरो की सेवा एव सुधार के कार्यो मे लग जाता है, इसमे वह कोई बुराई नही देखता। पर हमारे विचार से, हमारे दृष्टिकोण से प्रत्येक लोक-हित के कार्य का मूल आत्म-परिष्कार है। पहले हम अपने को सँभाल ले तभी दूसरो को सँभालने और रास्ता दिखाने का दावा करे, अन्यथा समाज की नीव धीरे-धीरे कमजोर पडती जायगी और अन्त मे समाज गिर पडेगा। पश्चिमी सभ्यता एक बुराई को दूर करने के लिए और दूसरी बुराई करने की छूट देती है और इसे बुरा नही समझती। एक स्त्री सतीत्व बेचकर देश-सेवा कर सकती है,

क्योंकि उनके दृष्टिकोण में व्यक्ति का आचरण नष्ट करके भी समाज का हित हो तो होना चाहिए। यही नहीं चूँकि देश-सेवा में समाज की अधिक सख्या का हित समझा जाता है इसलिए ऐसा करना दुराचरण नहीं है। यहाँ व्यक्ति समाज-सापेक्ष्य है। उसके प्रत्येक कार्य के गुणावगुण का निश्चय समाज की ओर देखकर किया जाता है। उसकी अपनी कोई कसौटी नहीं है, समाज ही उसकी कसौटी है, समाज का मत ही उसका प्रमाणपत्र है। इस प्रकार की विचार-प्रणाली मे जो गहरी भूल या आत्मवञ्चना है, उसे भारतीय सस्कृति के उन्नायको ने समझा था और इसीलिए उन्होने केन्द्रोन्मुखी दृष्टिकोण हममें पैदा किया और आत्म-परिष्कार लोक-हित की पहली कसौटी रखी। जिस कार्य से आत्म-परिष्कार न हो उससे लोक-हित भी नहीं हो सकता, ऐसी उनकी समझ थी। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि बुराई मे भलाई का आभास हो सकता है पर बुराई मे भलाई पैदा नही की जा सकती। अन्त मे जाकर उसका परिणाम बुरा होगा। समाजवाद और गाधीवाद अपने दृष्टिकोण में बिलकुल ग्रीक (युरोपीय) और भारतीय सस्कृति के प्रतिनिधि है। गाधीवाद अपने सामाजिक पक्ष मे समष्टिपरक व्यक्तिवाद है। इस दृष्टि से वह लोक-हित के लिए भी कहीं श्रेष्ठ मार्ग है। मैंने लडकपन मे बीरबल के नाम पर प्रचलित एक कहानी सुनी थी। बादशाह ने एक बडा हौज़ खुदवाया और एक दिन बीरबल की सलाह से सारी राजधानी में डौंडी पिटवाई गई कि प्रत्येक आदमी रात को एक-एक मटका दूध इसमे डाल जाय। प्रत्येक ने यह सोचा कि सब लोग दूध डालेगे ही, यदि मैं एक घडा पानी डाल दूँगा तो इतने बडे दूध-कुड में क्या पता चलेगा? सुबह जब देखा गया तो एक बूँद दूध वहाँ न था, पानी से हौज़ भर रहा था। यह समाज एव व्यक्ति के दृष्टिकोण को सामने रखने वाला एक

श्रेष्ठ रूपक है। इससे प्रकट होता है कि जहाँ व्यक्ति अपनी ओर, अपनी सुधारणा की ओर ध्यान न देकर समाज की ओर ध्यान देता है अथवा जहाँ केवल समष्टिगत दृष्टिकोण व्यक्ति के सामने रह जाता है, तहाँ प्रत्येक व्यक्ति (समाज का प्रत्येक घटक) दुर्बल हो जाता है और अन्त मे पानी-ही-पानी वाले कुड की-सी स्थिति समाज की हो जाती है।

× × ×

यांत्रिक सभ्यता के दोष—गाधीवाद और समाजवाद दोनो धन के विषम बँटवारे को उचित नही समझते है, पर अपने उद्देश्य की साधना मे दोनो के मार्ग और दोनो के दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न है। पूँजी की वर्तमान अवाछनीय अवस्था को बढाने मे, और इस समस्या को इतने विकट रूप मे ससार के सामने रखने मे वडे-वडे यत्रो एव कल-कारखानो का वडा हाथ है। उन्होने पूँजी के प्रवाह एव उसकी उत्पादक शक्ति पर एकाधिपत्य-सा कर लिया है। वैज्ञानिक यत्रो की असीम गति एव शक्ति के कारण मानव-जाति का बहुत बडा भाग बेकार होगया है और दिन-दिन होता ही जा रहा है। पहले ५०० आदमी जिस स्थान पर काम करते थे, तहाँ दस की सहायता से मशीन वही काम करने लगी है। कहा जाता है कि नवीन यत्रो ने अनेक नवीन आवश्यकताओ एव उद्योगो की सृष्टि भी तो की है, परन्तु ऐसा कहनेवाले इसके साथ का यह तथ्य भूल जाते है कि मशीनो की गति मे दिन-दिन इतनी तीव्रता, इतनी त्वरितता आती जाती है और उनमे विशेष यान्त्रिक ज्ञान इतना आवश्यक होता जाता है कि वे एक सीमा तक ही, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, आदमियो को काम दे सकती है। दूसरी बात यह कि वे सर्वसाधारण के लिए सुलभ नही है और उनके लिए पर्याप्त धन की आवश्यकता होती है। तीसरी बात यह कि महान् यत्रागारो या कारखानो के चलाने की

सुविधा विशेष स्थानो पर ही होती है, इससे सम्पूर्ण ग्रामीण जीवन एव ग्राम-सस्था विशृखल होजाती है, उसका 'डिसलोकेसन' (स्थान भ्रन्शत्व) होता है और समाज का सघटन टूट जाता है, विक्षोभ एव विद्रोह के उपकरण समाज मे पैदा होते है, अवाञ्छनीय होड वढती है और उसमे अनुदारता, सकुचित दृष्टिकोण, स्वार्थ-साधन की वृत्ति पैदा होती है। इस प्रकार इन महान् यत्रागारो के कारण सर्वसाधारण का आर्थिक, सामाजिक और नैतिक पतन होता है, व्यक्ति यत्रवत् हो जाता है और अपने घरेलू वातावरण और अपने क्षेत्र विशेष मे सदियो से चले आते हुए उसके कौशल और योग्यता का अन्त हो जाता है। गाँवो या कला-केन्द्रो का व्यक्तित्व समाप्त होजाता है।

व्यक्तिगत सम्पत्ति की समस्या का हल—गाधीवाद अपने सैद्धान्तिक और शुद्ध रूप मे, सभ्यता की इस यात्रिकता का, इस प्रकार वहुत वडे-वडे कारखाने खोलकर जीवन मे जटिलता उत्पन्न करने की प्रवृत्ति का विरोधी है, क्योकि इस पद्धति मे वैयक्तिक सम्पत्ति वडी तेजी से वढती है और राष्ट्र का धन कुछ थोडे आदमियो मे केन्द्रित हो जाता है और धन-सत्ताका जन्म होता है। असल वात यह है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति की पद्धति स्वत वुरी नही है, पर वुराई इसलिए पैदा होती है कि वर्तमान समाज मे व्यक्तिगत सम्पत्ति की कोई सीमा या मर्यादा नही। व्यक्तिगत सम्पत्ति की गुणीकरण वृद्धि (Multiplication) पर समाज का किसी प्रकार का नियत्रण नही है अथवा इन्कमटैक्स आदि के रूप मे जो कुछ है भी, वह नही-सा है। इस व्यक्तिगत सम्पत्ति की समस्या का हल गाधीवाद और समाजवाद दोनो चाहते है। दोनो उसके नियत्रण और समाज-हित मे उसके सम्यक उपयोग के पक्ष मे है, परन्तु दोनो के दृष्टि-कोण एव भावना मे अन्तर है। गाधीवाद तो समस्या के मूल पर ही

आघात करना चाहता है। वह रोग की चिकित्सा ('क्योर') की अपेक्षा बीमारी न होने देने (प्रिवेशन) की नीति मे अधिक विश्वास रखता है। उसके मत से, महान यन्त्रो (हेवी मेशीनरी) से केन्द्रीकरण की वृत्ति उत्पन्न होती है, मनुष्य की विशिष्ट शक्तियाँ, कलाओ ओर कारीगरी (जो अनेक छोटे, पर स्वावलम्बी, केन्द्रो मे बिखरी होती है अत युगो से प्रतिद्वद्विता के बीच बचती चली आती है) का अन्त हो जाता है, बडे-बडे नगरो का जन्म होता है, जिससे बेकारी, होड, स्थान की कमी से उत्पन्न होनेवाला स्वास्थ्य-नाशक वातावरण, कृत्रिम मनोरजन एव सभ्यता से होनेवाली मनुष्य की मानसिक क्षति और नैतिक पतन का आविर्भाव होता है। मशीनरी न केवल धन-प्रवाह की एकागी एव केन्द्रोन्मुखी गति को जन्म देती है, वरन् छोटे-छोटे सतुष्ट एव स्वावलम्बी करीगरो के सघटन को भी नष्ट कर देती है। समाजवाद ने बडे कल-कारखानो पर राज्य के एकाधिकार की जो नीति बताई है, उससे सम्पत्ति चाहे व्यक्तियो के हाथ मे न रहे, पर ऊपर बताई हानियाँ तो उसमे भी होती ही है। आधुनिक व्यापार के विस्तार तथा तदनुकूल सरकारी प्रबन्ध की विशालता के कारण भी उस प्रणाली की बहुत-सी बुराइयाँ इस (राज्याधिकार या राष्ट्रीयकरण, 'स्टेटकट्रोल', 'स्टेट मोनोपली' या नैशनलाइजेशन) मे रह जाती है। फिर यह समस्या का वास्तविक हल नही है, वरन आपद्धर्म-सा है। यह बुराइयो का स्रोत तो खुला छोड देता है, केवल बाँध बाँध देता है। फिर समाजवाद मानव-समाज के इस मनोवैज्ञानिक तत्त्व को भी भूल जाता है कि समाज व्यक्तियो से बना है और उनकी इच्छा के विरुद्ध (जब तक उनमे मानसिक परिवर्त्तन न हो) बहुत दिनो तक कोई पद्धति चलाई नही जा सकती। बल और जोर-ज़बर्दस्ती से कराये जाने वाले कार्यो के विरुद्ध, समय मिलते ही, बराबर विद्रोह एव क्रान्तियाँ

होगी। समाजवाद (विशेषत रूसी), अपनी अर्थ-व्यवस्था मे केद्रोन्मुखी है, वह 'स्टेट' अथवा किसी दल-विशेष मे राष्ट्र या समाज की सम्पूर्ण शक्तियो को केन्द्रित करता है और इस प्रकार साम्राज्यवादी औद्योगिक राष्ट्र-जैसे ही राष्ट्र को जन्म देता है। केवल उसमे नियत्रण कुछ पूँजी-पतियो की जगह, कुछ अपने को ठीक समझनेवाले आदमियो द्वारा निर्मित दल (फिर भी 'आलीगैरकी') के हाथ मे है। गाधीवाद पूँजीवाद के मूल मे प्रहार करता है और पूँजी के सम्बन्ध मे भी वह बहुत प्रभाव-शाली नियत्रण स्थापित करता है। पहली बात तो यह कि वह आधुनिक अर्थ मे अत्यन्त उद्योग-प्रधान (Highly industrialised) राज्य को पसन्द नही करता, छोटे-छोटे गृहोद्योगो को उत्तेजन देता है और देश के उद्योग को छोटे-छोटे ग्रामो मे, उनके स्वावलम्बी रूप मे, चलाने का वह पक्षपाती है। इससे बडे-बडे नगरो का जन्म नही होता और जो वर्तमान है उनकी ओर धन का प्रवाह बन्द हो जाता है। सम्पूर्ण देश मे फैले छोटे-छोटे गृहोद्योगो के कारण धन का वितरण भी बडे क्षेत्र मे और इस ढग मे होता है कि पूँजी एक जगह बहुत बडे पैमाने पर एकत्र नही हो पाती। इससे पूँजीवाद के जिस विशाल रूप को हम देखते है, उसका अन्त हो जाता है। छोटे-छोटे, अपने मे सतुष्ट, स्वावलम्बी और सुखी समूह, ग्रामो के रूप मे, बन जाते है। आधुनिक सभ्यता एव शासन-प्रणाली का सबसे बडा दोष यही है कि उसने इन गाँवो का महत्त्व नष्ट कर दिया है और उनको पगु बना दिया है। अन्नदाता किसान का महत्त्व समाज मे अपेक्षाकृत बहुत घट गया है। सोवियट रूस तक मे किसानो की सख्या सबसे अधिक होने पर भी, मजूरो को जो विशिष्ट प्रतिनिधित्व प्राप्त है, वह किसानो को नही है। हमारे देश मे भी समाजवादी मनोवृत्ति के नेताओ ने सदा मजूर-सघो के विशेष निर्वाचन-क्षेत्र स्वीकार किये जाने

पर जोर दिया है और आज भी मजूरो के प्रतिनिधि व्यवस्थापक सभाओ मे बैठते है, पर किसान इस प्रकार के प्रतिनिधित्व से सर्वथा हीन है। इसका कारण यही है कि वर्तमान सभ्यता पर प्रतिष्ठित किसी भी प्रणाली के राष्ट्र मे नगरो को ग्रामो से कही अधिक महत्त्व एव अधिकार प्राप्त हो गया है। गाधीवाद इस दोप के मूल पर आघात करता है।

गांधीवाद में नियंत्रणों की पर्याप्तता—दूसरी बात यह है कि गाधीवाद ने पूँजी के उपयुक्त नियत्रण और वितरण के लिए अपने अनुयायियो पर अपरिग्रह का जबर्दस्त बन्धन लगा रखा है। गाधीवाद के नैतिक पक्ष मे अपरिग्रह, अस्वाद और ब्रह्मचर्य वा इन्द्रियनिग्रह ये तीन बडे ही प्रबल अस्त्र है। पर इनका केवल नैतिक मूल्य नही है, आर्थिक एव सामाजिक मूल्य भी है। गाधीवाद जीवन के टुकडे-टुकडे करके नही चलता। उसकी नीति और उसकी अर्थनीति सब एक दूसरे से सम्बद्ध है वह एक 'आरगैनिक होल' है—एक सम्पूर्ण जीवन तत्त्व है। अपरिग्रही व्यक्ति पूँजीवादी हो ही नही सकता। अपरिग्रह का अर्थ है, उतनी ही चीजो का ग्रहण जो जीवन के लिए **अनिवार्यत आवश्यक** है और जिनके ग्रहण मे विलास इत्यादि का भाव नही है अथवा दूसरे शब्दो मे यह कह सकते है कि उन सब वस्तुओ का त्याग जो जीवन के लिए **अनिवार्यत आवश्यक नहीं है**। पूँजीवादी प्रवृत्तियो का अन्त करने के लिए अपरिग्रह की शर्त्त ही पर्याप्त है। फिर भी सतत जागरूक रहनेवाले गाधीवाद ने उसके साथ अस्वाद एव ब्रह्मचर्य के दो और रक्षक लगा दिये है। अस्वाद का मोटा अर्थ यह कि जीवन-शक्ति के सचालन के लिए तुमको जिन भोज्य पदार्थो की आवश्यकता है, उनको लो, जिह्वानद या स्वाद के लिए मत लो और ब्रह्मचर्य का अर्थ यह कि विवाहित-अविवाहित प्रत्येक अवस्था मे अपने शरीर और मन को अधिक-से-अधिक पवित्र और निर्मल

रखने और बनाने की कोशिश करो, विलास और वासना से ऊपर उठो और इस शरीर में जो प्रच्छन्न आत्मतत्त्व है, इस मरणशील आवरण के नीचे जो कभी न मरनेवाला, अमृत और निर्विकार, प्रेम है, उसे प्राप्त कर तृप्त हो। स्वाद और काम ये ही दो मनुष्य में स्वार्थ, विलास एवं संग्रह का भाव जाग्रत करते हैं, इसलिए गांधीवाद इन दोनों का अधिकाधिक नियंत्रण रखने के लिए जोर देता है। इससे व्यक्ति का मन उच्चाशयी बनता है, शरीर स्वस्थ एवं नीरोग रहता है। ऐसे व्यक्ति समाज के लिए मूल्यवान हैं। फिर ऐसी भावनाएँ उत्पन्न होने से समाज भी तृप्त, सुखी और विकार-रहित होता है। इस प्रकार गांधीवाद धन-संग्रह करने की प्रवृत्तियों को ही नियंत्रित करने में यत्नवान है। मतलब यह कि सच्चा गांधीवादी पूँजीपति हो ही नहीं सकता अथवा जितने ही अंश तक कोई गांधीवाद को ग्रहण करेगा, उतना ही उसके हृदय में संग्रह, अनाचार एवं लूट (exploitation) की भावना नष्ट होती जायगी। इस प्रकार गांधीवाद में उन सब वृत्तियों पर पर्याप्त अंकुश है, जिनसे पूँजीवाद का जन्म होता है।

इसके विरुद्ध समाजवाद बड़े-बड़े कल-कारखाने खोलकर राष्ट्र को अत्यन्त उद्योगमय (Highly industrialised) तो करना चाहता है पर इन बड़े उद्योगों पर व्यक्ति के स्थान में राष्ट्र का प्रभुत्व चाहता है। यह वही रोग-शमन ('क्योर') वाली पद्धति है, जो कुछ ही समय तक सभ्यता को आश्वासन दे सकती है क्योंकि पूँजी के केन्द्रीकरण की सब प्रवृत्तियाँ इसमें ज्यों-की-त्यों रह जाती हैं। इस पद्धति में पहला बड़ा दोष तो यह है कि उद्योग के बड़े-बड़े केन्द्रों एवं नगरों का जन्म होता है, जिससे देश का कौशल (Skill) सब जगह से हटकर—कुछ स्थानों पर एकत्र होजाता है। ग्रामों की अपनी विशेषताएँ एवं कलाएँ नष्ट होजाती

है, उनको नगरो पर निर्भर करना पडता है, फलत नगरो को राजनीति और राष्ट्र-सघटना (स्टैट क्रैफ्ट) मे ग्रामो से विशेष महत्व मिल जाता है। दूसरी वात यह कि वडे-वडे कारखानो एव उद्योगो के साथ साम्राज्य-वादी मनोवृत्ति किसी-न-किसी रूप मे रहती ही है क्योकि निर्मित वस्तुओ (Manufactured goods) के लिए विदेशी वाजारो पर प्रभुत्व करना आवश्यक है। यह कहना व्यर्थ है कि समाजवादी या साम्यवादी राष्ट्र मे सम्पूर्ण नियन्त्रण 'स्टेट' के हाथ मे होने से वह उत्पत्ति (Production) को मॉग (Demand) के अनुसार नियमित कर सकता है। व्यवहार मे ऐसा सम्भव नही है, क्योकि यह जटिल यात्रिक रूप कामय रखते हुए कोई देश अपने को अन्य उद्योग-प्रधान राष्ट्रो से अलग करके नही रख सकता। वडे-वडे कारखाने जव एक वार चल जाते है, तो उनके कारण एक विशिष्ट श्रमिक वर्ग की उत्पत्ति होजाती है जो दूसरा काम नही कर सकता या दूसरे काम के लिए वहुत कम कुशल होता है क्योकि आधुनिक जटिल मशीनरी विना विशेष ज्ञान (Specialisation) के चलाई ही नही जासकती। तव उनको सदा काम मे लगाये रखने एव देश मे वेकारी न फैलने देने के लिए कारखानो को अधिक-से-अधिक गति (Speed) एव शक्ति से चलाते रहना आवश्यक होजाता है। दूसरे देशो से उसे कच्चा माल भी लेना पडता है और उसका दाम चुकाने के लिए वनी-वनाई चीजो (Manufactured good) की वाजारो मे खूव मॉग हो, यह ख्याल रखना पडता है। इसलिए विदेशी वाजारो मे उसे प्रतियोगिता भी करनी पडती है और इस प्रकार की प्रतियोगिता का स्वाभाविक फल यह होता है कि दुर्वल राष्ट्र दुर्वलतर होते जाते है और उनके हाथ से वाजार निकलता चला जाता है। यह प्रत्यक्ष साम्राज्यवाद से कही अधिक भयानक साम्राज्यवाद है। सोवियट रूस को भी वरावर अन्य साम्राज्य-

वादी एवं उद्योग-प्रधान राष्ट्रों ने अपना मधुर सम्बन्ध इसीलिए बनाये रखना पड़ा है और इसीलिए सिद्धान्त से झुककर उसे व्यापारिक (एवं सामरिक) समझौते करने पड़ रहे हैं। और आवश्यकता पड़ने पर साम्राज्यवादी राष्ट्रों के प्रधान अधिकारियों के स्वागत के समय, साम्राज्यवादी राष्ट्रगीतों का गायन करना पड़ता है। यह स्वाभाविक है। मशीनरी का परिणाम ही यह है कि यदि एक देश से बेकारी दूर हो जाय, तो भी अन्य देशों में बढ़ेगी, जबतक कि ऐसा न हो कि एक दिन हम सोकर उठें और देखें कि दुनिया के सम्पूर्ण छोटे-बड़े राष्ट्र एक साथ ही समाजवादी होगये हैं।

मानवीय शक्तियों का ह्रास—यन्त्रप्रधान राष्ट्रों की सभ्यता में एक और बड़ा दोष यह है कि उसमें मनुष्य का मूल्य बहुत कम होजाता है। एक श्रमिक के जीवन का नपा-तुला दाम होता है, जो कारखानों में दुर्घटना होने या उसके मर जाने की अवस्था में उसे या उसके कुटम्बियों को मिल जाता है। यन्त्रों ने पग-पग पर जीवन के खतरे बढ़ा दिये हैं और उनके आविष्कर्ता भी उनके सामने बेकार एवं शक्तिहीन-से हैं। यह ठीक है उन्होंने मानव-बुद्धि में विकास किया है और मनुष्य ने आज ऐसे यान्त्रिक आविष्कार किये हैं कि वह अपनी बुद्धि का विजयगान गा सकता है, पर यह भी सच है कि जो व्यक्ति बिजली को जन्म दे सकता है, वही उस बिजली का एक क्षण में ग्रास होसकता है। इन यन्त्रों ने मनुष्य की मौलिक शक्तियों में कोई वृद्धि नहीं की है, जो वृद्धि दिखाई भी देती है, वह यन्त्र-सापेक्ष्य है और उसके लिए मनुष्य उन्हीं (यन्त्रों) पर निर्भर करता है। यन्त्र-जाल का यह भस्मासुर अपने गुरु मनुष्य-रूपी शिव के सामने खड़ा होकर उसे निगलने के लिए प्रबल हुंकार कर रहा है। इसके विरुद्ध जहाँ सभ्यता का यह यान्त्रिक रूप नहीं है, मनुष्य में

अधिक आत्म-विश्वास, अधिक प्राकृतिक ओज, अधिक सरलता और अधिक सात्त्विकता एव सहानुभूति है। क्योकि वहाँ मनुष्य प्रकृति के उतना ही निकट है। वहाँ वह दूसरे बन्धुओ के दु खदर्द को अधिक-से-अधिक निजत्व के साथ अनुभव करने की स्थिति मे है। वहा जीवन सादा है, समय पर्याप्त है और प्रतियोगिता एव होड अपेक्षाकृत बहुत कम है। प्रत्येक को अपने मानसिक विकास और चिन्तन के लिए समय है। बिना किसी स्थानच्युति (Dislocation) एव परावलम्बन के छोटे-छोटे समूह सुखी है ओर दूसरो की उन्नति मे बाधक भी नही। कोई दौड नही रहा है, सब चल रहे है।

गांधीवाद का व्यावहारिक क्रम—सैद्धान्तिक पक्ष को छोड दे, तो व्यवहार-पक्ष मे गाधीवाद, अपने निकट कार्यक्रम मे, समाजवाद के कार्यक्रम की अनेक बातो से मिलता-जुलता है। जैसे जबतक वह समय (मशीनरी के पूर्ण त्याग का) न आवे, गाधीवादी का कार्य-क्रम यह रहेगा कि वह व्यवसाय एव बडे यन्त्रागारो पर राष्ट्र का नियन्त्रण स्थापित करे और उनका सचालन केवल जन-हित के ख्याल से हो। ये यन्त्रागार सिलाई की 'सिगर' मशीन-जैसे छोटे, कुटुम्ब मे चलाये जा सकनेवाले उपयोगी यन्त्र बनावे और उन्हे गाँवो मे पहुँचावे, जिसमे गाँवो के उद्योग ज्यो-के-त्यो फूल-फल सके और उनको नगरो पर कम-से-कम निर्भर करना पडे। मतलब यह कि इस उत्क्रान्ति काल मे इन यन्त्रागारो का उपयोग गाँवो के उद्योग-धन्धो को नष्ट करने मे नही, बढाने मे हो और बाद मे, जब गाँव अपने मे काफी स्वावलम्बी होजाय, तो बडे यन्त्रगारो की जो थोडी-सी आवश्यता या नियन्त्रण है, उसमे भी धीरे-धीरे कमी की जाय। इसका अर्थ यह है कि मशीनरी को सक्रान्ति काल के लिए यदि अपनाना ही पडे, तो उसे अपनाकर भी

प्रवृत्ति जीवन-क्षेत्र से धीरे-धीरे उसे हटाने की हो, बढाने की नहीं, जैसा कि व्यावहारिक समाजवाद मे देखा जाता है। साराश यह कि छोटे-छोटे, यथासम्भव स्वावलम्बी गृहोद्योगो तथा सख्या एव परिमाण की अपेक्षा गुण और जीवन की सादगी को बढाकर गांधीवाद पूंजी के दुरुपयोग पर नियन्त्रण रखता है।* इस प्रकार कार्यक्रम के बहुत-से अशो मे, दृष्टिकोण के भिन्न होते हुए भी, गांधीवाद समाजवाद के प्रस्तावो से सहमत है, पर वह कहेगा कि इतना ही पर्याप्त नही है और शायद इनकी प्राप्ति और रक्षा भी तबतक सम्भव न होगी जबतक अन्य सूक्ष्मतर मनोवैज्ञानिक परिवर्तनो का उपयोग न किया जाय।† और इस दृष्टि से छोटी-छोटी, एव बहुत करके स्वतत्र, ग्राम-सस्थाएँ ससार, विशेषत भारत, के लिए रूसी पद्धति की बहुत ही अधिक केन्द्रित सरकारी सस्थाओ से कही अधिक उपयुक्त सिद्ध हो सकती है।

गांधीजी के सम्पूर्ण कार्यक्रम मे उद्योग एव कृषि के बीच उपयुक्त सतुलन बना रहता है। मजा तो यह है कि साम्यवाद (Communism) का ध्येय भी छोटे-छोटे स्वतत्र समूहो (Communes) का निर्माण करना था, परन्तु समाजवादी या साम्यवादी आज जो उपाय काम मे ला रहे है और

---

*यहाँ यह बात भी याद रखने की है कि यद्यपि वर्तमान पूंजीवाद का एक कारण व्यक्तिगत सम्पत्ति भी है, किन्तु जिस विशाल एव भयानक रूप में आज ससार में पूंजीवाद दिखाई देता है उसका कारण व्यक्तिगत सम्पत्ति की अपेक्षा धन का दुरुपयोग एव उससे पैदा होनेवाले अन्य दोष अधिक हैं।

†We may admit the value of all the Socialist proposals, and yet add that they alone are not enough, and indeed probably cannot be attained and preserved without these other and subtler psychological changes —R B Gregg

जिस भाँति एक सर्वाधिकारी एव सब बातो पर नियत्रण रखनेवाले, विशाल तथा अत्यत केन्द्रित राज्य (A vast, highly centralised state owning and controlling everything) को जन्म दे रहे है, उनमे ऐसे स्वतत्र लघुसमूहो (कम्यून्स) का उनका ध्येय कभी सफल नहीं होसकता।

सच पूछे तो गाधीवाद एक प्रकार का परिवर्द्धित, परिष्कृत, सुसस्कृत साम्यवाद है। जैसे समाजवाद (socialism) की अपेक्षा साम्यवाद (communism) अधिक पूर्ण एव क्रातिकारी है, वैसे ही साम्यवाद की अपेक्षा 'एनारकिज्म' (अराजकवाद) आगे की चीज है। अपने तत्त्व मे गाधीवाद एक प्रकार का भारतीय 'एनारकिज्म' है और समाज की वर्तमान विषमता दूर करने के लिए वह कही श्रेष्ठ विचार, शक्ति, कार्यक्रम एव साधन उपस्थित करता है।

× × × ×

जीवन का एक पूर्ण तत्त्वज्ञान—गाधीवाद इस दृष्टि से भी अधिक पूर्ण एव अधिक महत्वपूर्ण है कि वह जीवन का एक सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान सामने रखता है। वह जीवन के बिल्कुल स्वतत्र, परस्पर-विरोधी (जैसे आर्थिक, नैतिक, राजनीतिक) टुकडे नही करता। यहाँ ये सब विभाग एक दूसरे को लेकर, एक दूसरे से जीवन लेते एव एक-दूसरे को जीवन देते हुए चलते है। इन विभागो और कार्यक्रमो मे परस्पर, एव सुदूर लक्ष्य के साथ भी, प्रति पग पर सामञ्जस्य है। गाधीवाद के एक कार्यक्रम के साथ सब चलते एव सब विकसित होते है। वह खण्ड-क्रातियो मे विश्वास नही रखता, जीवन के समन्वयात्मक विकास में विश्वास रखता है। उदाहरण से स्पष्ट करना चाहे, तो यो ले। समाजवाद अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए राजनीतिक स्वतत्रता एव राजतत्र को साधन बनाता है। पहले राजनीतिक क्राति होगी, फिर राजनीतिक तत्र का अर्थीकरण नये

आधार पर होगा। इसके विरुद्ध गाधीवाद का राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एव नैतिक सब काम साथ चलता है। जैसे खद्दर का कार्यक्रम। खद्दर के साथ नैतिक उद्देश्य तो यह है:—विलासिता का त्याग एव सादी वेश-भूषा का ग्रहण, समाज के श्रमिक वर्ग के प्रति समता एव आदर का भाव, वाह्य आकर्पण का त्याग एव जीवन के लिए **अनिवार्यतः आवश्यक** वस्त्र का ग्रहण। इसका राजनीतिक उद्देश्य वर्तमान शासनतत्र के विरुद्ध एक शक्तिमान प्रतीक (symbol) की सृष्टि करना है। वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था के विरुद्ध यह एक प्रकार के विद्रोह का प्रतीक है। खद्दर विभिन्न राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओ का एक परिचय-पत्र, एक 'इडेक्स कार्ड' और एक नाम पट्ट (साइन वोर्ड या साइन पोस्ट) है, जिसके द्वारा वे एक-दूसरे के प्रति उद्देश्य एव साधन के ऐक्य का अनुभव कर सकते है। इसका सामाजिक उद्देश्य है—समाज मे धन-वल के कारण एव उस धन-वल के वाह्य चिन्ह कीमती वेश-भूपा के कारण जो एक आदृत और विशेप वर्ग वन गया है, उसके और साधारण जनो के वीच की विपमता को दूर करना, यह वेश-भूपा जो समाज पर इस विशिष्ट वर्ग के नियत्रण एव प्रभाव का एक साधन वनी हुई है, उसे नष्ट कर देना और दोनो के वीच सामाजिक धारणाओ की समता स्थापित करना। इसका आर्थिक उद्देश्य तो वहुत स्पष्ट है। खादी-कार्यक्रम के पूर्ण विकास मे मिल के वस्त्रो के त्याग का भाव सन्निहित है और इसका मतलव, किसी न किसी अश मे पूँजीवादी उद्योगो के जाल से छूटना है। इसके अलावा यह जीवन की एक आर्थिक आवश्यकता के ऊपर प्रत्येक कुटुम्व का अपना नियत्रण स्थापित करता है। इस प्रकार के उदाहरण गाधी-कार्यक्रम के प्रत्येक अग से उपस्थित किये जा सकते है। मतलव यह कि गाधीवाद के कार्य-क्रम टूकडे-टुकडे करके चलाने की आवश्यकता नही, न समाजवाद के

आर्थिक कार्यक्रम की भाँति राजनीतिक सत्ता पहले प्राप्त होने पर निर्भर है। अब तो मार्क्सवादी तथा अन्य लोग भी राजनीतिक कार्यक्रम के साथ आर्थिक कार्यक्रम की आवश्यकता स्वीकार करने लगे है।

× × × ×

समाज और व्यक्ति दोनों का त्राता—इस प्रकार हम देखते है कि गाधीवाद से समाजवाद के सब मुख्य उद्देश्यो की पूर्ति हो जाती है और उसकी बुराइयो तथा उससे पैदा होने वाली नैतिक एव मानसिक अव्यवस्था और विक्षोभ से भी समाज एव व्यक्ति बच जाता है। गाधीवाद मे व्यक्ति की स्वतत्रता भी है और समाज का हित भी है। वह व्यक्ति को समाज के के लिए बलिदान नही करता, न उसका व्यक्तित्व नष्ट कर देता है, वरन् वह व्यक्ति एव समाज के बीच एक हितकर सम्बन्ध स्थापित करता है और दोनो के बीच उपयुक्त सतुलन रखता है। मानवीय अन्त करण की स्वतत्रता को गाधीवाद किसी हालत मे भी नष्ट नही होने देता। श्रीयुत निर्मलकुमार वसु ने एक बार ठीक ही कहा था —"Gandhism never gives to the state the paramount power accorded to it by Socialism The freedom of the human conscience is a priceless treasure which Gandhiji is not prepared to barter for anything else on earth If he gives to the state a certain measure of obedience it is never with regard to the fundamentals" अर्थात् "गाधीवाद राष्ट्र को वह सार्वभौम मत्ता नही देता, जो उसे समाजवाद देता है। मानवीय अन्त करण की स्वतत्रता एक अमूल्य निधि है, जिसका बदला गाधीजी ससार की किसी वस्तु से करने के लिए तैयार नही है। वह राष्ट्र (स्टेट) की अधीनता एक सीमातक स्वीकार करते है, पर यह अधीनता मूलभूत सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे नही है।" 'समाजवाद व्यक्ति (की प्रकृति) मे विश्वास नही रखता और एक बाह्य सार्व-

भौम मत्ता मे विश्वास रखता है। पर गाधीजी को आशा है कि उपयुक्त अवधि मे सर्वसाधारण अपने पर बहुत अधिक नियन्त्रण रखने के लिए तैयार किये जा सकते है और उनमें परस्पर इतनी सहानुभूति और सम्मान की भावना पैदा की जा सकती है कि विना किसी लडाई-झगडे के वे रह सके और राज्य (स्टेट) को उनपर हिंसात्मक दवाव न डालना पडे।'*

समाज के नियन्त्रण के मौलिक तत्व—यह कहा जा सकता है कि चूकि समाजवाद समाज पर वर्ग-प्रभुत्व (class-control) के सिद्धान्त को स्वीकार करता है, इसलिए वह गाधीवाद की अपेक्षा कही अधिक स्पष्ट लक्ष्य हमारे सामने रखता है। किन्तु यदि हम समाज-निर्माण के मनोवैज्ञानिक पहलू पर विचार करे और सामाजिक नियत्रण के प्रश्न को जरा वारीकी से देखे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज वर्ग द्वारा नियत्रित नही होता वरन् मूल्य एव प्रतीक द्वारा नियत्रित होता है (the society is ultimately controlled not by a class but by value)

समाज पर आज पूजीपति वर्ग का प्रभुत्व क्यो है ? इसलिए कि धन का मूल्य वढा दिया गया है और सर्वसाधारण ने उसे वहुत महत्व दे रखा है। धन को उन्होने सम्मान और प्रतिष्ठा का प्रतीक वना रखा है। मत-लव यह कि वर्तमान समाज पर धन के अतिरिक्त महत्त्व एव वढे हुए मूल्य का नियत्रण है। इस नियत्रण को नष्ट करने के लिए समाजवाद

---

*"The Socialists, it seems, do not trust the nature of the individual man but insist on an exterior supreme authority, whereas Gandhi is hopeful that in reasonably short time the mass of men can attain a far greater degree of self-control and can largely develop their mutual good will—enough to live together without violence and without forceful coercion by the State" —R B Gregg

पूजीपति वर्ग का नाश चाहता है। गाधीवाद थोडा और आगे बढना चाहता है। वह पूजीपति का नाश नही करता और न जबर्दस्ती उससे पूजी छीनता है, वरन् वह ऐसा उपाय करता है कि समाज मे आज पूजी को जो अतिरिक्त महत्त्व प्राप्त है, वह नष्ट होजाय, जिस साख पर पूजी-वाद की इमारत खडी है, वह ढह जाय, जिस कारण पूंजीपति इतना सम्मानित है, वह आधार ही हटा लिया जाय, अर्थात् धन के महत्त्व को, उसके मूल्य को कम कर दिया जाय और धन के स्थान पर मनुष्य के सम्मान के अन्य मूल्यो की स्थापना की जाय। प्रतिष्ठा का प्रतीक और मूल्य (सिम्बल ऐंड वैलू) आज धन है, उसकी जगह त्याग, निग्रह, समाज-सेवा को प्रतीक बनाया जाय। इस प्रकार आज अधिकारी—शासक—वर्ग या पूंजीपति की अन्त शक्ति का जो स्रोत है, उसे नष्ट कर दिया जाय। चूंकि गाधीवाद अन्त मूल्य को पूर्णत बदल देता है, इसलिए उसे सम्पत्ति या अधिकार को छीनने या जब्त करने की आवश्यकता ही नही रह जाती। उदाहरण लीजिए—एक जमाना था, जब रायबहादुरी प्रतिष्ठा का चिन्ह समझी जाती थी। रायबहादुर होने से समाज उस व्यक्ति को विशेष रूप से आदरणीय मानता था। टाइटिलो (उपाधियो) का मूल्य बढा हुआ था और टाइटिल वाले आदमियो की इज्जत और साख समाज में अधिक थी और साख की इस शक्ति से वह समाज पर हावी था। गाधीवाद ने सरकारी उपाधियो का महत्त्व नष्ट कर दिया और उसकी जगह सम्मान के नये प्रतीक को प्रतिष्ठित किया, देशभक्ति या सेवा एव त्याग का महत्त्व बढा दिया। फलत सत्याग्रह-युग मे राय-बहादुरो या अन्य उपाधिधारियो की इज्जत नष्ट होगई, उनकी साख और धाक जाती रही और उनका विनाश किये बिना ही, उनकी शक्ति का स्रोत नष्ट होजाने से उनके पहले शक्तिमान रूप का अत होगया।

वर्तमान पूंजीवाद के तीन कारण—लेनिन ने पूंजीवाद की वर्तमान अवस्था के तीन मौलिक कारणो का जिक्र किया है —

१ उत्पत्ति के साधनो पर स्वामित्व (Ownership of the means of Production)

२ लाभ के लिए उत्पत्ति (Production for Profit)

३ फालतू उत्पत्ति का निर्यात (Export of surplus production)

इनमें उत्पत्ति के साधनो के व्यक्तिगत स्वामित्व का अन्त कुछ तो छोटे-छोटे एव स्वतत्र गृहोद्योग एव गांधीवाद की अकेंद्रीकरण (decentralisation) की नीति से होजाता है और जो बचता है उसका भी नियत्रण सर्वसाधारण-द्वारा सत्याग्रह के अपना लिए जाने पर हो जाता है। दूसरी बात का हल, गांधीवाद में, धन के महत्व या मूल्य का घट जाना है। गांधीवाद के नये मूल्याकन (Valuation) में उत्पत्ति के प्रेरक कारण (motive) स्वभावत आवश्यकता एव उपयोग है। फालतू उत्पत्ति की समस्या गृहोद्योगो एव हाथ के उद्योगो से बहुत-कुछ हल होजाती है क्योंकि बडी मशीनो के अभाव मे उत्पत्ति इतनी तेजी से हो नही सकती कि वह बडे परिमाण मे एकत्र होती रहे। अधिकतर प्रत्येक जिला या प्रदेश अपनी उत्पत्ति पर निर्भर रहेगा और यदि थोडी-बहुत फालतू उत्पति हुई भी तो वह लूट (exploitation) की इच्छा से न होगी और बहुत करके देश में ही उसका उपयोग हो जायगा।

समाज का बाह्य संगठन क्या है?—समाजवाद के पक्ष मे एक यह बात भी कही जा सकती है कि उसके पास समाज के सगठन के लिए एक निश्चित ठोस योजना है। किन्तु प्रश्न किया जा सकता है कि यह सगठन और ढाचा असल में है क्या चीज? यह तो किसी आतरिक उद्देश्य का बाह्य रूप या परिणाम-मात्र है। प्रत्येक जीवित एव विकासमान

अवयव की भाति, समाज मे, प्रत्येक 'स्टेज' (स्थिति, श्रेणी) अपने सारे उपकरणो के साथ, अपनी पूर्ववर्ती स्थिति (स्टेज) की शक्तियो के आधार पर निर्मित होता है और उसका रूप बहुत करके उन साधनो पर निर्भर करता है, जो उसकी सिद्धि या प्राप्ति के लिए काम मे लाये जाते है। सच पूछिए तो साध्य साधन का ही एक विकसित रूप है। ऐसी अवस्था मे साधनो की शुद्धता एव पूर्णता पर भी परिणाम का शुभाशुभ निर्भर करता है। इसीलिए हमारा तर्क शास्त्र मानता है कि बुराई से भलाई पैदा नही हो सकती। ये साधन साध्य या परिणाम की प्रकृति एव स्वभाव पर जितना असर डालते है, उतना सगठन की कोई बौद्धिक योजना नही। इसी-लिए गाधीवाद मानता है कि यदि हिंसा के बल से कोई क्रान्ति कर भी ली जाय,तो वह वस्तुत , सच्चे अर्थ मे, क्रान्ति न होगी, केवल बाह्य रूप बदल जायगा क्योकि नये रूप मे भी हिसा और जोर-जबरदस्ती बनी रहेगी। जबतक समाज-रचना के किसी कार्यक्रम मे हिसा को स्थान रहेगा, तब तक उसके परिणाम-स्वरूप जो समाज बनेगा, उसमे हिंसा रहेगी और जब तक (सगठित) हिसा समाज या राष्ट्र का आधार रहेगी, तबतक चाहे समाज-सगठन या शासन-तत्र का (समाजवादी, साम्यवादी, धनसत्तावादी प्रजासत्तावादी, साम्राज्यवादी, पूंजीवादी, राजतत्र) कोई भी रूप रहे, उसमे प्रधान शक्ति उस दल के हाथ मे रहेगी जो हिंसा के प्रयोग मे सब से पटु होगा, समाज का सचालन और नियत्रण विवेक और त्याग नही, सैनिक बल पर निर्भर करेगा। मतलब यह है कि समाज मे सच्ची क्राति तो तब होगी, जब हमारा उद्देश्य, हमारे साधन और हमारी भावना सभी आमूल क्रातिकारी होगे और जब हम वर्तमान समाज-व्यवस्था के उन सब साधनो एव मूल्यो का त्याग कर देगे जिनपर वह आज, अपने विविध एव परस्पर-विरोधी दीख पडनेवाले रूपो मे भी, ठहरी हुई है।

इन सब दृष्टियो से विचार करने के वाद निम्न-लिखित निष्कर्ष निकलते है —

१ गाधीवाद समाजवाद की अपेक्षा अधिक व्यापक है।
[वह सम्पूर्ण जीवन का तत्वज्ञान सामने रखता है]

२ गाधीवाद समाजवाद की अपेक्षा अधिक क्रातिकारी है।
[वह वर्तमान समाज के हिंसाधार को वदलना चाहता है। उसका न केवल लक्ष्य वरन् साधन भी क्रातिकारी है।]

३ गाधीवाद समाजवाद की अपेक्षा मनुष्य के लिए अधिक स्वाभाविक है।
[वह मनुष्य के सवसे प्राकृतिक एव तात्त्विक भाव प्रेम को जाग्रत करता है।]

४ जव समाजवाद वर्तमान समाज-व्यवस्था के दोषो पर केवल एक रोक का काम करता है, तव गाधीवाद वर्तमान समाज-व्यवस्था के दूषणो के स्रोत पर आघात करता है।
[वडे-वडे यन्त्रागारो का नाश एव छोटे-छोटे गृहोद्योगो का निर्माण करके]

५ गाधीवाद व्यक्ति एव समाज दोनो की स्वतत्रता कायम रखते हुए, दोनो के वीच उपयुक्त सम्वन्ध कायम करता है किंतु समाजवाद मे व्यक्ति के व्यक्तित्व और स्वतत्रता का लोप होजाता है।

६ समाजवाद की सफलता एक विशेष असहनीय अवस्था पर निर्भर है, जव गाधीवाद प्रत्येक स्थिति मे व्यवहार्य है।

७ समाजवाद विभेदात्मक है, विनाशात्मक है। गाधीवाद समन्वयात्मक है रचनात्मक है।

८ समाजवाद के मुख्य लक्ष्यो को गाधीवाद पूरा करता है।

१ गाधीवाद ने कुचली हुई, पीडित एव हिंसक बल के साधनो से हीन एव दुर्बल जातियो, व्यक्तियो एव राष्ट्रो के हाथो में एक नवीन अस्त्र दिया है, जिसका कौशल—'टेकनीक'—बिल्कुल नया और आश्चर्य मे डालनेवाला है और जो ठीक प्रकार से इस्तेमाल किये जाने पर पीडक के विरुद्ध अत्यन्त तीव्र एव असह्य वातावरण उत्पन्न करता है और पीडित के पक्ष मे न केवल उदासीन वृत्ति के लोगो की सहानुभूति जाग्रत करता है, वरन् स्वय पीडक को भी हैरानी में डाल देता है और जिस समर-नीति एव समर-कौशल को उसने सदा से जाना है, उसको कम-ज़ोर और बेकार कर देता है और अन्त मे प्रतिपक्षी के पक्ष मे भी अपने प्रति सहानुभूति एव सम्मान का भाव जाग्रत कर लेता है।

× × ×

इसके अतिरिक्त भारतवर्ष की दृष्टि से गाधीवाद भारतीय प्रतिभा, कल्पना, भावना एव मानस के अधिक अनुकूल है क्योंकि उसका आविर्भाव विश्व-कल्याण की अविरोधी भारतीय सस्कृति के मथन मे भारतीय सस्कृति (अत्यन्त उदार अर्थ मे) के एक महान् उद्धारक के द्वारा हुआ है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से गाधीवाद अधिक क्रान्तिकारी है। राजनीतिक दृष्टि से अधिक सम्भव, सरल, व्यापक एव व्यावहारिक है। नैतिक दृष्टि से, मानव-सौहार्द्र का जनक एव प्रेरक होने के कारण, श्रेष्ठ है। सामाजिक दृष्टि से वह एक सुसस्कृत अराजकवाद है। वह साम्यवाद का एक ऐसा विस्तृत, निर्दोष रूप है जिसमे व्यक्ति की पवित्रता एव राष्ट्र अथवा समाज का हित दोनो सुरक्षित है और जो समाजवाद की तरह सर्वसाधारण को पूँजीवादी लूट से तो बचाता ही है, उनकी आध्यात्मिक एव नैतिक प्यास को भी शान्त करता है।

८

भारतीय विचार-भूमि पर

मार्क्स-दर्शन की धारणाएँ

[एक तुलना और आलोचना]

मार्क्स-दर्शन की धारणाओ के सम्बन्ध मे पिछले पचीस वर्षो मे जर्मन, रूसी तथा अग्रेजी भाषाओं मे जो ग्रन्थ लिखे गये है, उनमे भी सदा ही मतैक्य नही रहा है। व्याख्याओ मे वस्तुत पर्याप्त मतभेद है और इस मतभेद को लेकर ही परस्पर-विरोधी अनेक सस्थाओ, सघो और प्रचार-मण्डलो की सृष्टि पश्चिम मे हुई है। ये परस्पर-विरोधी व्याख्याएँ करने-वाले लोग एक-दूसरे को झूठे मार्क्सवादी कहकर उनका उपहास भी करते है और इस खण्डन-मण्डन को लेकर जिस प्रचुर साहित्य की सृष्टि हुई है, उसके बीच साधारण मानव चकरा जाता है। यह सब ठीक वैसा ही है, जैसा प्रत्येक धर्म के साथ हुआ है। ज्यो-ज्यो समय बीतता जाता है, परस्पर-विरोधी व्याख्या और भाष्य का एक बवण्डर जैसे धर्मो के इर्द-गिर्द उठ खडा होता है, वैसे ही मार्क्स-दर्शन के विषय मे भी हुआ है।

पर कुछ बाते ऐसी है, जो प्राय निर्विवाद है। प्राय मै इसलिए कह रहा हूँ कि इनकी व्याख्याओ के विषय मे भी मतभेद की गुन्जाइश तो रह ही जाती है। मार्क्स-दर्शन की इस धारणा को प्राय सब समाजवादी मानते है कि समाज का (अथवा उसके अग-रूप मे मनुष्य का) विकास समाज के मूल मे निहित अन्तर्द्वन्द्व को लेकर ही होता है। इसलिए मार्क्स-दर्शन का परिचय 'डायलेक्टिकल मेटेरियलिज्म' के नाम से भी कराया जाता है। यह ससार को सतत परिवर्तनशील, सतत विकासमान मानता है। प्रकृति के साथ मनुष्य का जो सग्राम आदि से चल रहा है और इसमे उसे जो सफलता मिलती गयी है, उसी को ग्रहण करके मार्क्स ने इतिहास की पदार्थमूलक व्याख्या प्रस्तुत की।

भारतीय विचार-भूमि पर मार्क्स-दर्शन की धारणाएँ

'जगन्मिथ्या' का तात्पर्य

जगत्, प्रकृति, मानव के बीच सम्बन्ध स्थापित कर वस्तु के रूप का अनुसन्धान करने का कार्य कुछ मार्क्स ने ही नही शुरु किया। भारतीय दर्शन मे सदा से ही एक धारा इस मतवाद के पोषको की रही है। इनके अतिरिक्त भी समन्वयवादी दार्शनिको की एक बहुत बडी सख्या जडवादी एव आदर्शवादी दृष्टिकोणो की या अनात्मवादी एव आत्मवादी विचार-सरणियो की स्वतन्त्र विवेचना करके दोनो मे से सारसत्य ग्रहण करने में सदैव सचेष्ट रही है। भारतीय दर्शन अनेक धाराओ मे विभाजित होकर वाद एव विचार-विनिमय द्वारा पुष्ट एव क्रमश सुसस्कृत होता गया है। 'जगत् मिथ्या है' यह भारतीय दर्शन की कोई टेक नही है और इसका जो अर्थ लेकर इसकी हँसी उडायी जाती है, वह अर्थ कभी था नही—हो सकता नही, न सामूहिक रूप मे हमारे दार्शनिको ने वह अर्थ कही लिया ही है। 'जगत् मिथ्या है' का यह अर्थ कभी नही लिया गया कि प्रकृति और उसकी अन्त शक्तियाँ मिथ्या है। मिथ्यात्व मे केवल नाम-रूप-मिथ्यात्व की प्रधानता है। प्रकृति का और जिन सब वस्तुओं मे वह अपने को क्रीडित, व्यक्त, करती है, उन सब वस्तुओ का उपहास भारतीय दर्शन नही करता। वह भी जगत् को नित्य परिवर्तनशील मानता है। मिथ्या वह केवल दृश्य प्रपञ्च को मानता है। अर्थात् जगत् अथवा पदार्थ का रूप सत्य नही है। रूप किसी पदार्थ की सच्ची स्थिति को नही प्रकट करता। वस्तुत यह रूप ही सतत परिवर्तनशील है। आम का बीज लीजिये। इसमे और आम के पौधे या वृक्ष के सारतत्त्व मे कुछ भेद नही है। वैज्ञानिक भाषा मे आम का बीज आम्र-वृक्ष का सक्षिप्त घनीभूत सस्करण है। इसे उलटा करके यो भी कह सकते है कि आम की गुठली में प्रकृति

के जो तत्त्व केन्द्रित है, वे ही आम्र-वृक्ष मे फैलकर प्रकट हुए है। इसी प्रकार लोहे को लीजिये। लोहा कोई पृथक् व्यक्तित्व रखनेवाला पदार्थ नही है। वस्तुत किसी पदार्थ की सर्वथा स्वतन्त्र सत्ता नही है। प्रकृति के मूल मे जो तत्त्व है, उन्ही से सब पदार्थ बनते-बिगडते एव एक रूप से दूसरे रूप मे बदलते रहते है। भारतीय दार्शनिको ने जगत् के दर्शक को भ्रमित होने से बचाने के लिए ही 'जगन्मिथ्या' की अवतारणा की थी। इसका इतना ही मतलब था कि हमे नाम-रूपादि के मिथ्यात्व के भीतर प्रवेश करके सार-वस्तु को ग्रहण करना चाहिए। भारतीय दर्शन शुद्ध जड-जैसी कोई वस्तु नही मानता। जड शब्द का जहाँ भी प्रयोग हुआ है, एक विशेष अर्थ मे हुआ है। उसका इतना ही तात्पर्य है कि उसमे चेतन की अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत अस्पष्ट है। जड का साधारण अर्थ, भारतीय दर्शन मे, अव्यक्त चेतन है। जिस वस्तु मे चेतन की अभिव्यक्ति, अपेक्षाकृत, जितनी ही कम है, वह वस्तु उतनी ही जड है। इन जड वस्तुओ मे भी, महाप्रकृति के क्रीडन मे, चेतना का क्रम सदा बदलता रहता है। इस प्रकार वस्तुएँ सदैव बदल रही है, सदैव गतिमान है।

परिवर्तन के मूल मे

इस परिवर्तन के मूल मे विरोधी 'तत्त्व' नही, विरोधी उपकरण काम कर रहे है। तत्त्वो मे विरोध मानना मार्क्स-दर्शन का भ्रम है। क्योकि तत्त्वो मे विरोध होने पर किसी अवस्था मे पूर्ण सामञ्जस्य की स्थिति सम्भव नही है, जिस ओर मार्क्स-दर्शन भी प्रधावित है। सामञ्जस्य एव ऐक्य सदैव मूलत सम वस्तुओ मे ही सम्भव है। अवश्य ही वस्तुओ (भारतीय दर्शन की भाषा मे वस्तुओ के रूप तथा प्रकृति) मे नित्य जो परिवर्तन अथवा विकास हो रहा है, उसके भीतर अन्तर्द्वन्द्व काम

कर रहा है, पर यह अन्तर्द्वन्द्व तात्त्विक नही है, मौलिक नही है। यह उपकरणगत है। यह वस्तुओ की प्रकृति मे है। यह पदार्थो मे है। सब पदार्थो के मूल मे जो तत्त्व है वह एक है, वह अव्यक्त और अरूप है। यदि मार्क्स-दर्शन के तात्त्विक विरोध को हम मान लेते है, तो पूर्ण सामञ्जस्य की किसी अवस्था की कल्पना नही कर सकते। क्योकि तात्त्विक विरोध को कम भले ही किया जा सके, निर्मूल नही किया जा सकता। आश्चर्य है कि इस तात्त्विक अन्तर्द्वन्द्व को मानकर भी मार्क्स-मतवादी श्रेणी-विहीन समाज का स्वप्न देखते है। कदाचित् वे ससार के अन्य अन्ध धर्मानुयायियो की तरह एक ऐसी अवस्था की कल्पना करते है, जब सृष्टि के विकास-क्रम का अन्त हो जायगा और मनुष्य-समाज उस मञ्जिल पर पहुँच जायगा, जिसके आगे कोई मञ्जिल नही है। जब मार्क्स के डायलेक्टिक्स की धारणा को हम मान लेते है तब यह भी मानना पडेगा कि समाज के मौलिक अन्तर्द्वन्द्व का कभी अन्त नही हो सकता। इस अवस्था मे यह मानते हुए कि श्रेणी-सघर्ष से ही समाज की उन्नति तथा विकास होता है, यह कैसे कहा जा सकता है कि एक समय श्रेणी-हीन समाज का निर्माण सम्भव है। क्या समाज एव पदार्थ के मूल मे निहित तात्त्विक अन्तर्विरोध एक सीमा पर जाकर समाप्त हो जाता है ? यह मानना कि अमुक स्टेज या सीमा पर समाज की विकास-गति रुक जाती है, अन्ध-विश्वासियो के लिए सम्भव तथा उपयुक्त हो, पर जो बुद्धि से काम लेने या होश-हवास ठीक रखने का दावा करते है, उसके लिए यह तर्क-प्रणाली सर्वथा असगत तथा अश्रेयस्कर है।

प्रकृति पर विजय

प्रकृति से मानव का जो युद्ध आरम्भ से हो रहा है और उसमे मनुष्य

ने जो सफलता पायी है, उसकी पदार्थवादी ऐतिहासिक व्याख्या पर ही मार्क्स-दर्शन की नीव पडी है। प्रकृति से मानव के इस युद्ध की सफलता मे प्राय भौतिक सुख-सुविधाओ को ही गिना जाता है। इसलिए भारतीयो ने इसमे जो सफलता प्राप्त की थी, उसकी ओर मे आँख मूँदकर चलने की प्रथा आधुनिक विचार-प्रणाली मे चल पडी है। पर भारतीय दर्शन की एक शाखा के अनुसन्धान एव अभ्यास द्वारा भारतीयो योगियो ने प्रकृति पर जो पूर्ण विजय प्राप्त की, उसकी तुलना मे आधुनिक वैज्ञानिक सफलता भी नगण्य है। आधुनिक शरीर-विज्ञान जिन बातो को असम्भव मानता है, उनको भारतीय योगियो ने अनेक बार करके दिखाया है और आज भी ऐसे योगी सर्वथा विलुप्त नही हुए है*। २०-२५ हजार फुट ऊचे हिम-शृगो पर वस्त्रहीन अवस्था मे जीवन धारण करना, पोटासियम साइनाइड खाकर भी जीवित रहना, हृदय की गति को सर्वथा अवरुद्ध करके भी जीवन धारण करना, श्वास को पूर्णत रोक देना, वायुहीन भूमि के अन्दर महीनो की समाधि, एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ मे रूपान्तर कर देना इत्यादि शक्तियाँ मध्यम श्रेणी के योगियो के लिए भी सम्भव रही है और है। प्राण और शरीर पर सम्पूर्ण नियन्त्रण, प्रकृति-तत्त्वो पर सम्पूर्ण अधिकार—ये बाते क्या मानव की कुछ कम सफलता की द्योतक है? ये बाते किस्से-सी लगती है, मै यह मानता हूँ, पर इसका कारण यह नही है कि वे कुछ अवैज्ञानिक है, नही, वे पूर्णत वैज्ञानिक है। इसका कारण यह है कि आधुनिक विज्ञान भी अभी तक ऐसी आश्चर्य-जनक सफलताएँ प्राप्त नही कर सका है।

---

*ऐसे योगियो का प्रामाणिक वर्णन हमारे 'योग के चमत्कार' में विस्तार से पढिये। मिलने का पता—साधना सदन, किंग्सवे, दिल्ली।

भारतीय विचार-भूमि पर मार्क्स-दर्शन की धारणाएँ

व्यवहार और आदर्श की एकता

तब मेरा अभिप्राय यह है कि मार्क्स-दर्शन के अनुगामी जिन आदर्श-वादी दार्शनिको की हँसी उडाते है, वे शून्य या कोरे आदर्शवादी न थे। उनका आदर्श सर्वथा ठोस सत्यो से बना था। यह मानना कि आदर्शवादी क्रिया को महत्त्व न देते थे, केवल भाववादी थे, सत्य का तिरस्कार है। हमारे अन्दर और हमारे चारो ओर जो जीवन का विस्तार है, उसकी तात्त्विक एकता को वे हृदयगम कर सके थे। यह अनुभूति भावानुभूति-मात्र न थी, यह क्रियानुभूति थी। भारतीय विचार-परम्परा ने सदा भाव और क्रिया की एकता पर जोर दिया है। हमारे यहाँ विद्या तक को अविद्या कहा गया, यदि तदनुकूल आचरण की मर्यादा उसमे न हो। हमारे राजनीतिक क्षेत्र मे गाधीजी तक उसी परम्परा और संस्कार को लेकर चल रहे है। वस्तुत आदर्श व्यवहार से भिन्न नही है। हमारी विचार-धारा में वह व्यवहार की ही आत्यन्तिक अनुभूति या अभिव्यक्ति है। इसलिए मार्क्सवादियो के समान हम लोग केवल साध्य को ही नही देखते—साधन को भी उतना ही महत्त्व देते है। हमारी दृष्टि मे साधन के अन्दर ही साध्य निहित है। साधन के सम्यक् विलोडन और आचरण मे साध्य की प्राप्ति होती है। जैसे बीज मे वृक्ष है, वैसे ही साधन मे साध्य है।

जो लोग वाममार्गी (Leftists) है या जो अपने को जबर्दस्ती 'प्रगति-शील' और 'क्रान्तिकारी' इत्यादि बडे-बडे नामो से पुकारते है, वे प्राय गाधीवादियो की यह कहकर हँसी उडाते है कि वे लक्ष्य या साध्य को साधनो पर बलि कर देते है। वे प्राय कहते है कि हमारा अहिंसा मे कोई झगडा नही है, पर आप इसको एक 'फेटिश' (अन्ध पूजा का विषय) क्यो बनाते है। भले यह जरूरी हो, पर साध्य या लक्ष्य से अधिक जरूरी

नही है। हमें स्वाधीनता प्राप्त करनी है। वह जिस साधन से प्राप्त होगी, हम करेगे। इस विषय की चर्चा हम इसलिए कर रहे है कि थोडे-बहुत भेद से साध्य-साधन मे यह भेद-बुद्धि सम्पूर्ण मार्क्सवादियो मे पाई जाती है। हमारी विचार-धारा मे यह विषय अत्यन्त वैज्ञानिक, अत महत्त्वपूर्ण, है। यह सम्पूर्ण जीवन-दृष्टि के प्रति गलतफहमी का कारण है। यह हमारे सम्पूर्ण दार्शनिक दृष्टिकोण का आधार है। इसलिए यहाँ इस बात पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करना आवश्यक होगया है। इस प्रकार का विचार हम दार्शनिक एव बौद्धिक तथा व्यावहारिक दो दृष्टिकोणो से कर सकते है। इन दोनो मे भी मूल मे कोई अन्तर नही है।

साध्य-साधन का अभेद

दार्शनिक दृष्टिकोण से इस प्रश्न पर जब हम विचार करते है, तब वही पहला सवाल उठता है कि क्या साध्य साधन से सर्वथा स्वतत्र भी है? दोनो के बीच क्या सम्बन्ध है? अथवा कोई सम्बन्ध नही? यह कहा जा सकता है कि जिस साधन से साध्य प्राप्त होजाय, वही ठीक है। (End justifies the means) 'साध्य मे ही साधन का औचित्य है' वाला सिद्धान्त इसी तर्क से निकला है। इस विचार के प्रवर्तको का कहना है कि कोई साधन साध्य के अनुरूप है, इसका पता कैसे चल सकता है— अत इसकी एकमात्र कसौटी यही हो सकती है कि जिस साधन से साध्य अथवा लक्ष्य की प्राप्ति होजाय, वही अनुकूल या उचित साधन है। पर इस तर्क-प्रणाली मे एक बडा दोष यह है कि इसको मान लेने पर मनुष्य को साधन का निश्चय करने मे बडी गडबडी उपस्थित होती है। जब तक साध्य की प्राप्ति न होजाय, तब तक किसी व्यक्ति या दल के औचित्य के विषय में जोर के साथ अथवा निश्चयपूर्वक कुछ भी नही कहा जा

सकता। एक गड़बड़ी यह भी होती है कि नीति या सदाचरण को इसमें कोई स्थान ही नही रह जाता। साध्य के विषय में तो दुनिया में मतभेद कम ही है। ज्यादा झगड़ा साधनों को लेकर ही है। मानव-समाज का सुख सब का साध्य है। इसलिए साध्य के नाम पर तो अपील या प्रचार से कोई लाभ नहीं। उस साध्य के लिए कौन-सा दल किस साधन का उपयोग करता है और वह साधन भी कहाँ तक प्रति पग पर साध्य के या जिस समाज के श्रेय के लिए उन साधनों का उपयोग किया जा रहा है उसके अनुकूल एवं श्रेयस्कर है, इसी के आधार पर व्यक्ति किसी विशेष विचार-प्रणाली में शामिल हो सकता है। इसलिए हमारी, भारतीय, विचार-धारा में साधन का महत्त्व साध्य से कम नहीं, अधिक ही है। साधक के लिए साध्य एक अप्राप्त, अस्पष्ट वस्तु है। उसके पास जो कुछ है, साधन ही है। उस साधन से ही वह साधना द्वारा साध्य को प्रति पग पर विकसित और स्पष्टतर करता जाता है। साधन साध्य-फल का बीज है। साधन वह सड़क है, जिसका अन्त साध्य है। इसलिए हमारे लिए यद्यपि प्राप्य या साध्य अत्यन्त महत्त्व की वस्तु है पर व्यावहारिक दृष्टि से हमारा अधिकार साधन तक ही है और साधन की उपेक्षा करके हम साध्य को प्राप्त करने की कल्पना ही नहीं कर सकते। अभाव से भाव की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। सर्वथा नवीन सृष्टि भी इसीलिए सभव नही है। एक चीज, जिसे हम नयी कहते है, केवल इस अर्थ मे नयी होती है कि उसको एक विशेष रूप अथवा आकार-प्रकार में हम पहली बार देखते है। वस्तुत वह पहले भी थी। पहले सूक्ष्म रूप मे थी। इस प्रकार जहाँ जो चीज होती है, वहीं से उसका विकास सम्भव है। इसलिए साधन का महत्त्व सदैव साधक के लिए साध्य से अधिक होता है। साध्य तो साधन की परिणति-मात्र है।

हिंसा-अहिंसा पर व्यावहारिक दृष्टि

व्यावहारिक बौद्धिक दृष्टि मे यह प्रश्न और भी महत्त्व का है। मान लीजिए हमारा लक्ष्य स्वाधीनता है, अथवा एक ऐसे मानव-समाज का निर्माण है, जिसमे लूट और शोषण न हो, सब सुखी हो, सब को विकास की समान अथवा पर्याप्त सुविधाये प्राप्त हो। प्रगतिवादियो, वाममार्गियो अथवा मार्किस्टो का यही साध्य है। यही साध्य उन लोगो का भी है, जो पाश्चाद्गामी, दक्षिणमार्गी, गाधीवादी इत्यादि अनेक नामो से पुकारे जाते है। अब सवाल इतना ही रह जाता है कि इस साध्य की प्राप्ति की चेष्टा मे किसके साधन अधिक तर्क-सगत, अधिक वैज्ञानिक और साध्य के अधिक अनुकूल है। मार्क्स-दर्शन एक ऐसे समाज का स्वप्न देखता है, जब श्रेणियो का अन्त हो जायगा। एक ही श्रेणी, एक ही वर्ग समाज मे रह जायगा। उसके लिए यह अवस्था समाज-विकास के क्रम में ही निहित है। वर्तमान समाज के मूल मे जो श्रेणी-सघर्ष है, जो अन्तर्द्वन्द्व है, उसके कारण ही यह अवस्था प्राप्त होगी और श्रेणियो तथा वर्गो का सघर्ष में अन्त हो जायगा। समाज की बनावट मे, उसके मूल मे जो घोर हिंसा है, उस हिंसा को समाप्त कर देने का शुभ उद्देश्य मार्क्सवादी के सामने है। इस हिंसा के अन्त या अहिंसा की स्थापना के लिए परिवर्तनकाल (transition period) मे यदि कुछ हिंसा या जबर्दस्ती का सहारा लेना पडे, तो मार्क्सवादी इस पर नाक-भौं न सिकोडेगा, न हिचकिचायेगा। कभी-कभी तर्क या बात-चीत के सिलसिले मे इस मत के माननेवाले लोग यह भी कह बैठते है कि हिंसा का सवाल कुछ जरूरी नही है, क्योकि मार्क्स-दर्शन में कही हिंसापूर्ण साधनो की अनिवार्यता स्वीकार नही की गयी है। पर यह कोरे तर्क या कल्पना की बात है। क्योकि जहाँ-जहाँ आवश्यकता पडी है, मार्क्सवाद ने अपनी सफलता के लिए सदा हिंसा का

सहारा लिया है और जो मार्क्सवादी उस प्रकार के तर्क करते तथा शस्त्री-करण का विरोध करते हैं, वे भी सदा बातचीत में गांधी प्रवर्तित अहिंसा को 'बनियों का तत्त्वज्ञान', 'दुर्बलों या कायरों की फिलासफी' इत्यादि कहकर व्यंग करने और उस पर खुश होने से नहीं चूकते। हुआ असल में यह है कि हम हिंसा को बल या शक्ति का पर्याय समझ बैठे हैं। इतिहास में जो हिंसा ओतप्रोत रही है और आधुनिक समाज में भी जिसे हम कदम-कदम पर देखते हैं, उसने हमें अभिभूत—'हिप्नोटाइज्ड'—कर लिया है। एक आदमी, जो शत्रु को मारकर मरता है या हिंसक कार्य के उपलक्ष में फांसी पाता है, हमारे लिए सहज ही वीर हो जाता है, जो तिल-तिल करके सेवा कार्य में अपने को दे रहा है, जला रहा है अथवा जो बिना प्रतिहिंसा या प्रहार के शत्रु के सामने सीना खोलकर हँसते-हँसते गोली खा लेता है, उस प्रकार हमारा ध्यान आकर्षित नहीं करता। श्री गणेश-शंकर विद्यार्थी की अपेक्षा भगतसिंह की शहादत अधिक लोकप्रिय हुई। यह जो शोरगुल के साथ, एक तारे की तरह टूटकर या एक बिजली की भांति तड़पकर एकाएक, मरना है, हमें उस जीवन-दान से अधिक आकर्षित करता है, जिसमें शान्ति और धीरज के साथ, चुपचाप, मृत्यु का आलिंगन है। दुनिया तथ्य और ठोस त्याग एवं वीरता की जगह कुछ प्रदर्शन-तत्त्व चाहती है। यह सब इसलिए कि वह लूटवाली हिंसा, जिसका हमारा प्रगतिवादी नामधारी मित्र इतने जोरों से तिरस्कार करता है, वस्तुत उसकी नसों में भी एक नशा पैदा कर चुकी है। वह स्वयं उसी में फँसा हुआ है। वह स्वयं उस मानसिक व्यामोह में डूब रहा है। अन्यथा प्रतिशोध लेकर अथवा मारकर मरनेवाले के लिए मरना जितना सरल है, उससे बिना मारे हुए, मारने की, प्रतिहिंसा की इच्छा किये बिना मृत्यु का सामना करना कहीं कठिन है। दोनों की कोई तुलना

नही हो सकती । पहले के मूल मे जहा अहकार का किञ्चित् सन्तोष है, तहाँ दूसरे के लिए केवल उत्सर्ग ही उत्सर्ग है।

पर यह विषयान्तर-सा होता जा रहा है । हमे देखना यह है कि क्या हिंसा से किसी भी अवस्था में वह साध्य, ध्येय या लक्ष्य प्राप्त हो सकता है, जिसका जिक्र ऊपर किया गया है और जो प्राय सभी प्रकार के समाजसेवको अथवा विचारको का गन्तव्य स्थल है । पहली बात तो यह है कि जब हम अपने किसी ध्येय की प्राप्ति के लिए हिंसा का सहारा लेते है, तब समाज के अन्दर एक ऐसी स्थिति अथवा मानसिक भावना को बनाये रखने मे सहायक होते है, जिसमें शरीर-बल ही औचित्य का प्रधान निर्णयकर्ता रह जाता है। यदि प्रत्येक दल अपने सिद्धान्त अथवा कार्यक्रम की स्थापना के लिए हिंसा का सहारा लेने लगे, तो जो विजय होगी, वह किसी सिद्धान्त की विजय न होगी, बल्कि असस्कृत बल—'क्रूड फोर्स'—की विजय होगी । यदि यह कहा जाय कि समाज का बहुमत जिस दल की सहायता करेगा या जिससे सहानुभूति रखेगा, उसीकी विजय रहेगी, तो पहले तो यह बात मानने योग्य नहीं है, पर हम तर्क की खातिर इसे थोडी देर के लिए मान लेते है । अब प्रश्न यह है कि इस प्रकार के हिसापूर्ण साधनो का सहारा लेकर जो बहुतमत अपने पक्ष मे पैदा किया जाता है, क्या वह सच्चा बहुमत होता है ? सीधे-सीधे रूस को ले लीजिए । जर्मनी इटली, जापान इत्यादि किसी भी ऐसे देश को ले सकते है, जिसमे शासन-शक्ति एक दल के हाथ मे केन्द्रित है और वह दल शासन-शक्ति का प्रयोग जबर्दस्ती अन्य दलो के उच्छेद-साधन मे करता है । रूस को मैंने सुविधा की खातिर ले लिया है और इसलिए भी कि वह हमारे 'समाजवादी' मित्रो की कल्पना का स्वर्ग तथा उनके सिद्धान्तो की सबसे बडी प्रयोग-शाला है । क्या दावे के साथ यह कहा जा

सकता है कि रूस मे, अथवा इस प्रकार के किसी अन्य देश मे, जो बहुमत बनाया गया है, वह असल मे बहुमत है और स्थायी बहुमत है। जिस प्रकार अनेक विश्वस्त क्रान्तिवादी तथा देशभक्त साम्यवादी वहाँ मौत के घाट उतारे गये है या जा रहे है और जिस प्रकार षड्यन्त्र, कपट, प्रतिक्रान्ति की खबरे वहा से आती रहती है, उससे तो इस बहुमत की दृढता में स्वयं शासनारूढ दल को भी काफी सन्देह है, इसी धारणा की पुष्टि होती है। जबर्दस्ती तथा हिंसापूर्ण तरीको से जो बहुमत पैदा किया जाता है, उसको उसी प्रकार विरोधी हवाओ से सुरक्षित रखने की जरूरत पड़ती है, क्योंकि वह ऐसे कृत्रिम वातावरण में जीने का आदी बना दिया जाता है कि मुक्त वातावरण में, जहाँ एक ही तरह की या एक ही दिशा की हवा नही है, जहाँ सब तरफ से हवायें आ रही है, वह बना नही रह सकता। उसकी दलित मनुष्यता या होश-हवास फिर करवटे बदलने लगते है। जहाँ हिंसा का आश्रय लिया गया है, वहा प्रतिहिंसा आज या कल, अवश्य आयेगी, क्योंकि जो बहुमत बना है, वह आन्तरिक विचारो के सहज परिवर्तन से नही बना है, या बनता है जितना बाहरी दबाव या भय से बन गया है या बनता है। जहाँ हिंसा द्वारा क्रान्ति है, वहाँ विजय क्रान्ति की नहीं, हिंसा की है। 'लांग लिव रेवोल्यूशन' ('क्रान्ति चिरजीवी हो') का नारा वस्तुत क्रान्ति का उपहास मात्र होता है। क्रान्ति की समाप्ति का, विनाश का क्रम ('प्रासेस') तो उसी क्षण शुरू हो चुका होता है, जब हम हिंसा का आश्रय लेते है अथवा हिंसक साधनो के प्रयोग से पैशाचिक आनन्द (glee) का अनुभव करते है। जिस क्षण हिंसा का आश्रय लिया जाता है, उसी क्षण प्रतिक्रान्ति का, षड्यन्त्र का बीज पड जाता है। जहाँ जोर-जबर्दस्ती है, हिंसा है, तहाँ ध्येय बिलकुल क्षणस्थायी मनोविनोद या 'दिल के खुश करने को—यह खयाल अच्छा

है' वाली चीज बनकर रह जाता है। वह एक छाया है। वह एक आभास-मात्र है। वह निर्जीव है। वह मृगतृष्णा है। वह भ्रम है। इस ककाल मे रक्त मास नही, जीवन नही। इसे क्रान्ति कहना मानव-बुद्धि का उपहास मात्र है। जहाँ साधन हिंसापूर्ण है, वहाँ साध्य प्रतिहिंसा मे मुक्त नही हो सकता। हिंसा का सबसे बडा दोष ही यह है कि यह प्रच्छन्न हिंसा को मजबूत करती, भडकाती है। यह मनुष्य के अन्दर जो पशु है, जो जगलीपन और पशुता है, उसको जगाती है। यह षड्यन्त्र, कपट-जाल, विप्लव, विद्रोह का एक लम्बा सिलसिला चला देती है, क्योकि इसमे जो मत-परिवर्तन हुआ है, वह स्वेच्छा से, भलीभाति समझ-बूझकर नही किया गया है, वरन् एक उग्र परिस्थिति के दबाव कारण किया गया है। यह परिवर्तन दिखाऊ या नकली मत-परिवर्तन है। यह भी कह सकते है कि यह मत-परिवर्तन ही नही है, क्योकि इसमे स्वेच्छाकृत निर्णय के लिए स्थान ही नही है। इसमे कोई विकल्प या रुचि (Alternative या option) का प्रश्न नही है। इसमे हृदयो के भाव बदले नही है—दबा दिये गये है। जरा भी अनुकूलता प्राप्त होते ही ये जबर्दस्ती दबाये गये भाव अधिक उग्रता के साथ भडकते है।

इस प्रकार जहाँ साधनो मे हिसा का प्रयोग है, वहाँ बुद्धि की स्वतन्त्रता का, जिसका दावा 'समाजवादी' करते है, कोई सवाल ही नही है। वहाँ तो अन्धानुगमन या भेडियाधसान ही एकमात्र मार्ग है। इसके विरुद्ध खडा होनेवाला जी नही सकता। इसमे जबर्दस्ती है और मुक्त अथवा स्वतत्र इच्छा (Free will) का अवसर ही नही है। इसलिए हिंसक साधनो के अवलम्बन से कभी, वास्तव मे, इस ध्येय की प्राप्ति सम्भव ही नही है।

एक और आपत्ति

हिंसा के प्रयोग मे एक और बहुत बडी आपत्ति है। इस आपत्ति का सम्बन्ध मार्क्स-दर्शन की एक दूसरी धारणा से है, जिसमे व्यक्ति की समाज मे कोई स्वतन्त्र सत्ता नही है। मार्क्स-दर्शन मे व्यक्ति समाज-यन्त्र का एक पुर्जा-मात्र है। जो कुछ है, समाज के लिए है, व्यक्ति अपने लिए निर्णय करने मे स्वाधीन नही है। उसका जो कुछ है, सब समाज का है। उसे किसी अवस्था मे अपने लिए समाज-हित का विरोध क्यो और कैसे करने दिया जा सकता है। व्यक्ति और समाज के सघर्ष मे व्यक्ति को तो (समाज-हित के लिए) मिटना ही है।' इस प्रकार की विचार-धारा साधारणत सुनने और देखने मे बडी हितकर और निर्दोष मालूम पडती है, पर वैसी निर्दोष यह है नही। समाज का हित आवश्यक है, पर यह प्रश्न रह ही जाता है कि समाज का हित किस बात मे है, इसका निर्णय कैसे हो ? इसका निर्णयकर्ता कौन है ? समाज के लिए अमुक बात या योजना लाभकर है, इस ख्याल का आरम्भ कैसे, किस स्रोत से, होता है ? स्पष्ट है कि जिन व्यक्तियो का विवेक, उदारता, विद्या और आचरण से, जाग्रत एव सुसस्कृत हो चुका है, वे ही समाज-हित के प्रश्न का निर्णय कर सकते है। यह बात प्रत्येक 'स्कूल', प्रत्येक विचार-धारा के लिए, एक-सी आवश्यक है। विचारो, ख्यालो, क्रान्ति, सुधार, परिवर्तन, सेवा की धारणाओ का आरम्भ समाज मे नही होता, कुछ ग्रहणशील (Receptive) एव सस्कृत व्यक्तियो मे होता है। दुनिया मे जितने तत्त्वज्ञान या उच्च विचार आये है, सबका स्रोत व्यक्ति है। मार्क्स-दर्शन कुछ समाज के अन्दर की सामूहिक जागृति से ससार को नही मिला। वह मार्क्स की व्यक्तिगत-विकसित चेतना और ग्रहणशीलता का फल था। एक व्यक्ति ने समस्त दुनिया को नूतन विचार दिये और

उसकी विचार-धारा को प्रभावित किया। उसने अपनी विचार-प्रणाली को समाज के लिए हितकर समझा और दुनिया के सामने रखा। अब यदि मार्क्स को किसी देश में अपना मत प्रतिपादन करने की स्वतन्त्रता न मिलती, इग्लैण्ड में भी उसे मौत के घाट उतार दिया गया होता या ट्राटस्की की तरह एक स्थान से दूसरे स्थान पर उसको खदेड़ा जाता, तो यह सम्भव है कि मार्क्स-दर्शन से हम वञ्चित रह जाते। किसी भी विचार-धारा को समाज की तात्कालिक अवस्था प्रभावित चाहे जितना कर ले, उसका जनक व्यक्ति ही होता है। इसलिए व्यक्ति को अपनी विचार-धारा का विकास करने, अपने विवेक को जाग्रत करने की पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। कोई नहीं कह सकता कि मार्क्सदर्शन मानव बुद्धि की चरम सीमा है और इसके आगे मनुष्य पहुँच नहीं सकता। ऐसा मानना घोर अन्ध विश्वास, हठधर्मी और कट्टरता का द्योतक है। इसलिए प्रत्येक मत को अपने प्रचार एवं विकास की पूर्ण स्वतन्त्रता देना ही हितकर है। यह इसी हिंसा-वृत्ति का परिणाम है कि मार्क्सवादियों ने पहले शक्ति प्राप्त कर, अन्य विचार वालो को रूस में खत्म किया। बाद में उसी हिंसा का प्रयोग आपस में ही, एक-दूसरे के विरुद्ध होने लगा। 'हमारा ही ढंग ठीक है' इस विचार-प्रणाली का अन्त कभी सच्चे समाजवाद की स्थापना में नहीं हो सकता। इसका अन्त कटते-छँटते सदैव अनियन्त्रित केन्द्रीय सत्ता या हिटलरशाही में होगा। आज १० व्यक्तियों का दल, बहुमत या समाज-हित के नाम पर, अपने विरोधियों का उच्छेद करता है। कल उन १० में से भी प्रधान ४ व्यक्ति अन्य ४-५ का, जो तफसील में उससे भिन्न मत रखते हैं, अन्त कर देते हैं। यह क्रम चलता रहता है, जिसका स्वाभाविक परिणाम अन्त में, डिक्टेटरशिप है।

गांधीवाद या भारतीय दर्शन-प्रणाली, इसके विरुद्ध, समाज के हित

का आदर्श सामने रखकर भी, व्यक्ति को काफी स्वतन्त्रता देती है। भारतीय दर्शन को व्यक्तिवादी समाजवाद कह सकते है, जब मार्क्स-दर्शन समाजवादी व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति को, अन्त मे, बढा देता है। 'सब सुखी हो, सब निरामय हो' इससे बढकर समाजवाद क्या होगा ? पर भारतीय चिन्तको ने समझा था कि समाज का हित व्यक्ति को एक पुर्जा-मात्र बना देने मे नही है। समाज का हित व्यक्ति और समाज के स्वार्थो को एक कर देने मे है—दोनो मे विवेकयुक्त चैतन्य-सामञ्जस्य करने में है। व्यक्ति की अन्त साधुता को विकसित करने मे है। समाज-शक्ति अपेक्षाकृत जड है। इसका सञ्चालक व्यक्ति अथवा व्यक्तियो का मण्डल है, इस सत्य को माने बिना गति नही है। यह मानकर भी व्यक्ति के विकास की कसौटी यह मानी गई कि वह समाज-हित के कार्यो में अपने निजी सुख, सुविधा या तुच्छ स्वार्थो का त्याग करे। इस प्रकार व्यक्ति को समाज-हित के लिए ही स्वतन्त्रता एव सुविधा प्रदान की गई थी। इस विचार-प्रणाली का दर्शन आज हम गाधीवाद मे कर सकते है। इसमे व्यक्ति को चेतना के विकास की सुविधा है, पर इस सुविधा का उपयोग उसे अपने श्रेष्ठतर स्वार्थो, अर्थात् समाज के कल्याण के लिए करना पडता है। इसके लिए साधक को उन सुविधाओ तक का त्याग करना पडता है, जो साधारण लोगो को भी प्राप्त है। व्यक्ति जबर्दस्ती समाज-यन्त्र का पुर्जा बनकर नही, वरन् अपनी चेतना और विवेक से समाज के हित के लिए आत्मार्पण करता है।

गाधीवाद की विशेषता यह है कि यह अपनी सत्ता के लिए हिंसा पर निर्भर नही करता, यह अपने विरोधियो को भी अपने मत-प्रचार की तबतक पूर्ण सुविधा देता है, जबतक वे अन्य विचारो एव मतो की स्वाभाविक अभिव्यक्ति को दबाने के लिए जोर-जबर्दस्ती नही करते।

अहिंसा मे सब विचार-धाराओ के जी सकने और पल्लवित होने की गुंजाइश है, जब हिंसा मे केवल हिंसक ही अपने को जीवित रखना चाहता है।

यह स्पष्ट है कि गाधीवाद ने समाज और व्यक्ति दोनो के बीच एक श्रेष्ठ और सुन्दरतर आधार स्थापित करने की चेष्टा की है। उसने समाजवाद का एक उदार भारतीय सस्करण प्रस्तुत किया है, जिसमे मार्क्स-दर्शन की सकुचितताएँ नही है, विशेषताएँ या सम्भावनाएँ सब है।

१

व्यक्ति, समाज और गांधीवाद

[विश्व की वर्तमान विषमता और उसका हल]

"ऐसा एक भी सद्गुण नहीं है जिसका उद्देश्य केवल व्यक्ति का हित हो, या जिसे उतने ही से संतोष होता हो। उसी तरह ऐसा एक भी दुर्गुण नहीं है जिसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष असर दुर्गुणी व्यक्ति के अलावा दूसरों पर न होता हो। इसलिए कोई व्यक्ति सद्गुणी है या दुर्गुणी है, यह केवल उसी व्यक्ति का प्रश्न नहीं है, बल्कि वास्तविक यह प्रश्न सारे समाज का, या सारे संसार का है।"

—गांधीजी

विषम अवस्था

संसार की अवस्था इस समय बड़ी विषम है। एक ओर स्वतंत्रता समता, बन्धुत्व, न्याय के भावों को बढ़ाने पर जोर दिया जाता है, दूसरी ओर इन्हीं गुणों के विनाश की संगठित तैयारियाँ की जा रही हैं। मनुष्य को पहले से अधिक सुविधाएं मिल गई हैं। उसकी चेतना का क्षेत्र विस्तृत हो गया है। आमदरफ्त के साधनों में क्रान्ति होने के कारण विचारों का प्रवाह अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है। एक देश में होनेवाली घटना दूसरे देश के अधिवासियों पर मानसिक, राजनीतिक और आर्थिक असर डालती है। दुनिया, कम-से-कम मानसिक दृष्टि से, अविभाज्य बनती जा रही है। पीड़ितों और दुखियों के लिए विज्ञान और समाज ने काफी सहूलियतें दे रखी हैं। अन्धों के स्कूल खुल गये हैं, बहरे यंत्र के सहारे सुन सकते हैं। कठिन-से-कठिन रोगों का इलाज होने लगा है। असाध्य रोगों को साध्य बनाने में विज्ञान प्रयत्नशील है। गरीबों के लिए अस्पताल खुलते जा रहे हैं। सफाई पर ज्यादा जोर दिया जाने लगा है। कोढ़ियों की सेवा और चिकित्सा के लिए आश्रम और अस्पताल हैं। बूढ़े, अशक्त लोगों की

तरफ समाज का ध्यान जा रहा है। बच्चो और स्त्रियो को अधिक स्वतत्रता मिली है। उनके स्वास्थ्य पर ज़ोर है और इसके लिए सब देशो मे आन्दोलन हो रहे है और प्रगतिशील सस्थाओ का जन्म हुआ है। स्त्रियो के जीवन मे प्रकाश और आनन्द, स्वच्छता और स्वाधीनता का वातावरण पैदा करने की कोशिशे जारी है। विधवाओ की सहायता के लिए आश्रम खुल गये है। अनेक स्थानो पर उनके लिए गृहशिल्पो का ज्ञान सुलभ कर दिया गया है। और यह भी चेष्टा की जा रही है कि आर्थिक दृष्टि से भी वे अपने पैरो पर खडी हो सके। बेगार की प्रथा उठा दी गई है। पुश्त-दर-पुश्त चले आते हुए शोषण तथा विशेष अधिकार के भावो को गहरा धक्का लगा है। बेकारी की समस्या अब उपेक्षणीय नही रही। उसपर राजनीतिक दलो, और अनेक देशो मे सरकारो, का भाग्य और भविष्य निर्भर करता है। गुलामी की प्रथा उठा दी गई है या उठती जा रही है। अकाल, बाढ, भूकम्प इत्यादि प्राकृतिक आपदाओ से लडने के सगठित साधनो की खोज की गई है। सामाजिक व्यवहार मे अधिक शिष्टता दिखाई पडती है। सार्वजनिक सेवा, सहायता और सुधार के लिए ससार मे हज़ारो-लाखो छोटी-बडी सस्थाएँ खुल गई है। शिक्षा के प्रसार के लिए प्रबल प्रयत्न किये जा रहे है। हजारो स्कूल, कालेज, पाठशालाएँ, मदरसे, रात्रिशालाएँ और दूसरी सस्थाएँ इस दिशा मे काम कर रही है। शिक्षा के नये-नये प्रयोग किये जा रहे है। पुस्तकालय, पुस्तके, अखबार, रेडियो इत्यादि के द्वारा ज्ञान और सूचनाये जल्द-से-जल्द लोगो के पास पहुँच जाती है। विनोद के अनेक साधन सुलभ है। यात्रा पहले से कही अधिक सस्ती और सुविधाजनक हो गई है। जानवरो की रक्षा, सुधार इत्यादि के लिए भी सगठन है। उनके प्रति अत्याचार दण्डनीय है। सभ्य समाज मे जानवरो के प्रति उदारता और दया

का व्यवहार वढता जा रहा है। मानव-जीवन को अधिक दिलचस्प, स्वच्छ, स्वस्थ और क्रियाशील वनाने के विविध प्रयोग किये जा रहे है। शिशुओ की मृत्यु मे कमी करने, मनुष्य की औसत आयु वढाने इत्यादि पर भी काफी ध्यान दिया जा रहा है। मतलव, हजारो तरह से मानव-जीवन को कल्याणकारी भावनाओ के आधार पर खडा करने के प्रयत्न किये जा रहे है।

पर इस प्रकार के अधिकाश सुधार व्यक्तियो तक ही सीमित है। सामूहिक जीवन की गति इन कल्याणकारी सुधारो के सर्वथा विपरीत है। मुसलमान अच्छा है, हिन्दू अच्छा है। यो दोनो वडे कायदे से मिलते और सज्जनता से वर्तते है पर जहाँ साम्प्रदायिक, सामाजिक और सामूहिक स्वार्थो का सवाल आता है दोनो पागल हो उठते है। जरा-सी देर मे अपने-अपने सम्प्रदाय की सकुचित और विषैली भावनाएँ जाग्रत हो जाती है। दगे हो जाते है, सुव्यवस्थित जीवन अव्यवस्थित हो जाता है। वही आदमी जो कल तक शराफत का पुतला था, आज खून करने, आग लगाने, परस्पर जहर फैलाने के कार्य को उत्तेजन देने लगता है। हर समाज, समूह या सम्प्रदाय दूसरे से कुछ सुविधाएँ, कुछ अधिकार छीन लेने को अपना सवसे वडा लक्ष्य वनाये हुए है। दूसरो के शोषण पर सामाजिक एव व्यक्तिगत वैभव के महल खडे किये गये है। हर पेशे के अलग-अलग सगठन वने हुए है जो सम्पूर्ण समाज के हित की विशाल दृष्टि को छोडकर सिर्फ अपने हितो और स्वार्थो की रक्षा मे प्रयत्नशील है। और आगे वढते है तो राष्ट्र-राष्ट्र, देश-देश के वीच सघर्ष चल रहे है। सहयोग, सामञ्जस्य और न्यायपूर्ण वितरण की जगह वहिष्कार, सघर्ष और जवर्दस्ती का राज्य है। यो अग्रेज शराफत का पुतला है। व्यक्तिगत व्यवहार मे वह हिन्दुस्तानी से कुछ वढकर ही होगा। वह

अपने देश मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, भाषण एव लेखन की स्वतन्त्रता के लिए अपनी सरकार से भी लडने पर तुल जाता है। दुनिया में वह अपने को स्वतन्त्रता का सन्देशवाहक समझता है। जब हम उससे मिलते हैं तो उसकी मृदुता और स्पष्टता, उसके सलीके और सज्जनतापूर्ण व्यवहार से बडे प्रभावित होते है। पर वही अग्रेज अपने राष्ट्र के स्वार्थो के लिए दूसरे दुर्बल राष्ट्रो को गुलाम रखने मे कुछ उठा नही छोडता। वह उन्हे सिर्फ गुलाम ही नही रखना चाहता बल्कि उस गुलामी को स्थायी बनाने के लिए विज्ञान, बुद्धि, अनीति सब तरह के उपायो का अवलम्बन करता है। स्वतत्र राष्ट्रो मे भी परस्पर भयकर होड है। जो बाते व्यक्तियो मे सद्गुण मानी जाती है वे राष्ट्रो में, सामूहिक वर्गो मे केवल कमजोरी शब्द से पुकारी जाती है। स्पष्टता, सहृदयता, विश्वास, सहयोग इत्यादि गुणो पर व्यक्तियो की सफलता निर्भर करती है पर राष्ट्रो के बीच अस्पष्टता, सन्देह, अविश्वास, प्रतियोगिता, धमकी का बोलबाला है। इनकी राजनीति मे घूस, चोरी, धोका, षड्यत्र सब जायज़ है। असत्य का राज्य है। जो जितनी ही सफलता से धोका दे सकता है वह उतना ही चतुर राजनीतिज्ञ है। राष्ट्रो के वैदेशिक विभाग षड्यत्रो के अड्डे है। पर-राष्ट्रनीति धोका देने की उन्नत कला मात्र है। जीवन की स्वच्छता तथा आयु को बढाने के लिए एक तरफ जहाँ इतने प्रयत्न हो रहे है, तहाँ समूहो, वर्गो, एव राष्ट्रो के सघर्ष मे वह हर कदम पर खतरो से भर गया है। मानव-जीवन का मूल्य घट गया है। व्यक्ति की आन्तरिक स्वतत्रता लुप्त हो गई है। आर्थिक, राजनीतिक, मानवीय सुखो को भुला दिया गया है। पाखण्ड से सामूहिक जीवन पूर्ण है। व्यापार तथा अर्थनीति मे शोषण एव हानिकर प्रतियोगिता का राज्य है। राजनीति में जबर्दस्ती और डाकेज़नी का बोलबाला है। प्रत्येक वर्ग और समूह सुविधा और लाभ तो

अधिक-से-अधिक चाहता है पर ईमानदारी के साथ उसका मूल्य देने को तैयार नही है। अगर रास्ता चलते हुए किसी कमजोर आदमी को कोई जबर्दस्त लूट ले तो सब उसे बुरा कहते हैं। कानून मे भी वह मुजरिम है। उसके लिए दण्ड का विधान है। समाज और राष्ट्र दोनो की यह चेष्टा होती है कि ऐसी हरकते न बढने पावे। पर सामूहिक जीवन मे ठीक इसका उलटा है। जो राष्ट्र जबर्दस्त और शक्तिमान है वे दुर्बल राष्ट्रो को दबोच लेते है अथवा उनके प्रदेश जबर्दस्ती छीन लेते है। अमेरिका, इग्लैण्ड, जर्मनी, इटली, जापान, फ्रास ससार के सब महाराष्ट्र जिनकी राष्ट्रो के सघ मे बडी प्रतिष्ठा और साख है, दीन-दुर्बल राष्ट्रो को दबाये हुए है। दूसरो की सम्पत्ति के शोषण पर ही इनके अभ्युदय और वैभव के महल खडे हैं। लूट और डकैती का राज्य है यद्यपि इनके कुछ दूसरे सुन्दर और सुनने मे मीठे, नाम रख लिये गये है। सभ्य समाज मे, व्यक्तिगत दृष्टि से, हत्या बहुत ही घृणित अपराध समझा जाता है। पर राष्ट्रो के बीच जरा-सी तनातनी पर हजारो-लाखो आदमी मोत के घाट उतार दिये जाते है। इन युद्धो मे जो आदमी अपने विरोधी देश और पक्ष के जितने ही आदमियो को मार सकता है वह उतना ही वीर समझा जाता है। उसे बहादुरी के तमगे दिये जाते है। हजारो निरपराध आदमी, घरो मे बैठे हुए, बम-वर्षा से खत्म कर दिये जाते है। इन युद्धो मे मन्दिर, मस्जिद, गिर्जे, कला भवन, साहित्य तथा राष्ट्र के स्मारक एव परम मूल्यवान पदार्थ कुछ भी सुरक्षित नही। वैज्ञानिक, साहित्यिक, कलाकार, तत्त्वज्ञानी सब इसके पेट मे समान रूप से समा जाते है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे तथा वर्गो, समूहो और सम्प्रदायो के परस्पर सम्बन्ध में सहृदयता और सज्जनता का कोई चिन्ह नही।

हमारे समाने यह कैसा विचित्र परस्पर-विरोधी दृश्य है। मानव

जीवन का एक पक्ष स्वस्थ, सुखद, मनोरजक एव सज्जनता और सहानुभूति से पूर्ण है और उसी का दूसरा पक्ष अत्यन्त भद्दा, घृणापूर्ण और दु ख तथा अन्धकार से भरा हुआ है। यह विषमता क्यो है ?

विषमता का एक प्रधान कारण

व्यक्ति और समष्टि के व्यवहार मे इस भेद और विषमता का प्रधान कारण यह है कि मनुष्य-समाज मे दो प्रकार के नैतिक मूल्य निर्धारित है। व्यक्ति के आचरण के लिए कुछ दूसरे नियम है, समाज के लिए बिल्कुल दूसरे। व्यक्ति के लिए जो गुण और सदाचरण आवश्यक माने जाते है वे वर्ग या समष्टि के लिए बिल्कुल व्यर्थ मान लिये गये है। जो आदमी व्यक्तिगत जीवन मे ईसा के कानून एव उपदेश का अनुसरण करने का दावा करता है वही सामूहिक राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय, जीवन मे 'आँख के लिए आँख' वाली प्रतिहिसा को उत्तेजन देता है। एक झूठे आदमी की यो समाज मे कोई साख, कोई इज्जत नही होती। लोग छूत के रोगी की तरह उससे बचते है। पर कैसे आश्चर्य की बात है कि राज्य के बडे-बडे अधिकारी, जो झूठ बोलने की कला के प्राय आचार्य होते है और जिनकी सफलता इसी बात पर निर्भर करती है, समाज के आदरणीय सदस्य समझे जाते है। सार्वजनिक जीवन जैसे नैतिक नियमो और सदाचरण के सिद्धान्तो से सर्वथा रिक्त हो रहा है।

इस तरह व्यक्ति और समष्टि के लिए आचरण की जो दो सर्वथा भिन्न कसौटियाँ समाज मे बन गई है या स्वीकार कर ली गई है उसके कारण दोनो (व्यक्ति और समष्टि) में परस्पर विरोध और स्वार्थ-सघर्ष उत्पन्न हो गया है। भ्रमवश इस सत्य को भुला दिया गया है कि व्यक्ति तथा समूह मे परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है और दोनो का विकास परस्पर

सहानुभूति एव सहयोग पर निर्भर है, होड एव सघर्ष पर नही। समूह के बिना व्यक्ति शक्तिहीन है और व्यक्ति के बिना समूह का समुचित विकास सम्भव नही। व्यक्ति यदि अपने सामूहिक आचरण मे उच्छृखल है, सयम को नही ग्रहण करता तो अन्त मे व्यक्तिगत आचरण के क्षेत्र मे भी गिर जायगा। इसी प्रकार यदि समूह व्यक्तिगत जीवन के सदाचार, ईमानदारी ओर सच्चाई पर जोर नही देता तो कुछ दिनो मे वह दुर्बल, मानसिक रूप से अशक्त और असमर्थ व्यक्तियो का झुण्ड मात्र रह जायगा। सच्ची और स्थायी उन्नति के लिए व्यक्तिगत और सामूहिक दोनो प्रकार का विकास जरूरी है। व्यक्ति और समूह मे सतुलन होना सुखी तथा उन्नत समाज की पहली शर्त्त है। जो सदाचरण व्यक्तियो के लिए आवश्यक है वही समूहो, वर्गो, सम्प्रदायो एव राष्ट्रो के लिए भी जरूरी समझे जाने चाहिएँ। व्यक्ति ओर समूह के लिए जो दो प्रकार के परस्पर-विरोधी आचरण के नियम मान लिये गये है उनके कारण समाज मे दम्भ और पाखण्ड का एक अहितकर वातावरण पैदा होगया है। गाधीवाद ने इस अस्वाभाविक विरोध पर जवर्दस्त प्रहार किया है। वह मानता है कि दोनो मे सघर्ष नही वरन् सहयोग उन्नत जीवन की प्रधान आवश्यकता है।

व्यक्ति एव समाज के विकास पर एक सरसरी नजर

समस्या हमारे सामने यह है कि सामूहिक प्राणी (group animal) को किस तरह सदाचरण की अनिवार्य आवश्यकता का विश्वास दिलाया जाय? कैसे इस सामूहिक चेतना को समझाया जाय कि व्यक्ति की भाति ही उसे भी अपने पर नियत्रण रखने तथा कुछ नैतिक नियमो और सिद्धान्तो के वधन मे अपने को वाँधने की आवश्यकता है और यह कि उसके विना सभ्यता और सस्कृति का पतन अनिवार्य है?

यह ममस्या वैसे जटिल है किन्तु जब हम मनुष्य के विकास की लम्बी पर शिक्षाप्रद कहानी का स्मरण करते है तो इसे समझने मे काफी सहूलियत हो जाती है। एक जमाना वह था जब आदमी स्वभाव और रहन-महन मे जानवरो से मिलता-जुलता था। प्रकृति की गोद मे वह पलता था। नगा रहता था या छाल और मृगचर्म पहनता था। जानवरो के शिकार मे उसका अधिक वक्त जाता था। अपने जीवन के अतिरिक्त और किसी बात का उसे ध्यान न था। धीरे-धीरे उसने गिरोह और कबीले बनाये। वह १०–५ की टोलियो मे घूमता-फिरता था। जहाँ चाहा, पडाव डाल दिया, शिकार किया, भूना-खाया और आगे बढा। अब भी उसकी जिन्दगी वही शिकारी की जिन्दगी थी—कष्ट एव सघर्ष से भरी हुई पर विकास के पथ मे वह एक कदम आगे आ गया। जहाँ केवल एक व्यक्ति के स्वार्थ का ध्यान था तहाँ उसने अपने साथियो का भी कुछ खयाल रखना शुरू किया। दूसरो से लडता, दूसरो को लूटता पर अपने दस-पाँच के बीच उसमे कुछ स्पष्टता आ गई, कुछ ईमानदारी भी उसने सीखी। दूसरो के प्रति अपनी जिम्मेदारी का उसे कुछ धुंधला अनुभव हुआ। अपनी टोली मे एक-दूसरे के दुख-सुख का वह साथी बना। पर अब भी उसमे जानवर की प्रतिहिंसा तो थी। 'जिसकी लाठी उसकी भैस' का नियम चलता था। जो जबर्दस्त होता, दूसरो को खत्म कर देता। पर यो सदा लडते रहना भी तो सभव न था। खून, लूट और शिकार की जिन्दगी व्यावहारिक दृष्टि से भी बडी कष्टप्रद थी। मानव के मन मे जो अतृप्ति और खीझ दबी पडी थी, उसने जोर पकडा। शान्ति की प्यास जगी। स्त्री-पुरुष के सहयोग का युग आरम्भ हुआ। कुटुम्ब बना, जातियाँ बनी, फिरके बने। गाँव बस गये। यह सब इसी-लिए सभव हुआ कि प्रेम के नियम और कानून ने युद्ध और हत्या की

प्रवृत्ति पर विजय पाई। सम्पूर्ण सभ्यता के विकास-क्रम मे यही प्रेम की शक्ति छिपी रही है। इसी ने हत्या और लडाई के विश्वास और साधनो से मानव को ऊपर उठाया। इसी ने समाज और समूह को जन्म दिया और व्यक्ति को अनुभव कराया कि यदि वह केवल अपने को लेकर, अपने ही हित को देखते हुए चलेगा तो अन्त मे गिर जायगा और उसका जीना भी मुश्किल हो जायगा।

उस युग से आजतक मानवता का क्षेत्र जो इतना विशाल होता गया है उसके मूल मे मनुष्य की यही अन्त प्रेरक शक्ति रही है। इसे आप प्रेम कह सकते है, निषेधात्मक शब्द का इस्तेमाल करना चाहे तो अहिंसा कह सकते है। प्रत्येक देश मे ज्ञानियो और तत्त्वदर्शियो ने इस ऐक्य को आत्यन्तिक रूप मे अनुभव किया है—यहाँ तक कि समस्त जीवन के ऐक्य और प्राणिमात्र मे अभेदत्व की अनुभूति भी की गई।

अवश्य ही प्रत्येक प्राणी मे दो प्रधान प्रवृत्तियाँ वर्तमान है। एक अपने 'अस्तित्व' के रक्षण की ओर दूसरी दूसरो को अपना लेने की। पहले के द्वारा 'समर्थ की अस्तित्व-रक्षा और विजय' ('Survival of the fittest') के सिद्वान्त का जन्म हुआ और दूसरे के द्वारा सहयोग और समन्वय की भावना को बल मिला। पहले से भौतिक प्रवृत्तियाँ जाग्रत हुई और दूसरी ने मानव का मानसिक दृष्टि से सस्कार किया। आध्यात्मिक भाषा मे पहले को हम पशु-वृत्ति और दूसरे को देव-वृत्ति भी कह सकते है। मनुष्य एक प्राणी है। उसके समूह एव समाज है। उसकी शारीरिक आवश्यकताएँ है इसलिए उसमे पशुवृत्ति सर्वथा न हो, यह असभव है। यह तो उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है पर ज्यो-ज्यो, मनुष्य ने निजी एव सामूहिक जीवन के अनुभवो के सहारे अपने सम्बन्ध मे विचार किया और ज्यो-ज्यो अनुभव से उसके विवेक को बल मिलता गया त्यो-

त्यो वह अपनी मूल पशुवृत्ति को दवाता तथा सहयोग, प्रेम वा देव वृत्ति को विकसित करता गया। सम्पूर्ण सस्कृतियो और सभ्यताओ का इतिहास इसी प्रेम या सहयोग वृत्ति के विकास का इतिहास है। यदि ऐसा न होता, मनुष्य की पशुवृत्तियाँ सस्कृत न होती गई होती तथा युद्ध, हत्या और हिंसा का कानून पूर्ववत् जारी रहता तो आज मानवता का अस्तित्व मिट गया होता।

अपने 'अस्तित्व की रक्षा' की जो प्राथमिक और मूल प्रवृत्ति मनुष्य मे है उससे मैं इन्कार नही करता, न उसकी प्रवलता को मानने मे ही मुझे कोई आपत्ति है। इस प्रवृत्ति की साधना मे ही मनुष्य ने अनुभव किया कि विना सहयोग, प्रेम और ऐक्य के इसकी रक्षा भी सभव नही है। ज्यो-ज्यो उसके अनुभव परिमार्जित और परिष्कृत होते गये है उसके सामने यह वात स्पष्ट और स्पष्टतर होती गई है कि 'स्वास्तित्व-रक्षा का सिद्धान्त' भी सहयोग की प्रवृत्ति के विना टिक नही सकता। मानव जाति एव समाज का हजारो वर्ष का लम्वा इतिहास इसी अनुभव को पुष्ट करता है। इस लम्वी अवधि मे कभी मानव-समाज पीछे हटा और कभी आगे वढा, उसमे भयकर युद्ध हुए है, खून की नदियाँ वह गई है, अत्याचार एव उत्पीडन से मेदिनी काँप उठी है फिर भी इन तूफानो के वीच, धीरे-धीरे, प्रेम और सहकारिता की वृत्तियाँ पुष्ट होती गई है। मनुष्य प्रत्येक क्षेत्र मे हिंसक प्रवृत्तियो को, कम-से-कम मानसिक दृष्टि से, क्रमश छोडता गया है। सव मिलाकर जव हम देखते है तो यह स्पष्ट होजाता है कि सघर्ष के भाव पर सहयोग और प्रेम का भाव दिन-दिन प्रवल होता गया है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे इसके प्रमाण मिलेगे। कुछ उदाहरणो द्वारा इसकी व्याख्या सहज ही की जा सकती है।

कुटुम्व :—मानव-समाज की सवसे पुरानी सस्था कुटुम्व है। इसके

कारण मानव-जीवन मे निश्चिन्तता आई है और उसका सस्कार भी सम्भव हुआ है। इसने मानव के सघर्ष और कष्ट से भरे जीवन मे किंचित् सुख और सन्तोष का समावेश किया है। कुटुम्ब के आरम्भ और विकास का इतिहास ही बहुत करके मानव के पालतू और सभ्य होने का इतिहास है, यह उसके सस्कार का इतिहास है। इस सस्कार और विकास के क्रम पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुटुम्ब के पारस्परिक सम्बन्धो मे क्रमश अहिंसा या प्रेम का तत्त्व बढता गया है और ज्यो-ज्यो यह तत्त्व बढा है त्यो-त्यो उनमे उदारता, सहृदयता, सहयोग और स्वतन्त्रता का समावेश होता गया है। जोर-जबर्दस्ती कम होती गई है। आरम्भ मे कुटुम्ब के मुखिया को सब छोटे-बडे स्त्री-पुरुष सदस्यो पर पूर्णाधिकार प्राप्त था। वह उन्हे जैसे चाहता, रखता, जो काम चाहे लेता और गलती होने पर जो दण्ड चाहे दे सकता था। पत्नी पति की जायदाद थी। बच्चो पर पिता का पूर्णाधिकार था। स्त्रियाँ उपहार मे चाहे जिसे दी जा सकती थी और जिसे दी जाती उसी की सम्पत्ति मानी जाती थी। पति का स्त्री के शरीर पर पूर्ण नियन्त्रण था। वह सम्पत्ति की दूसरी चीजो की ही तरह उसे बेच भी सकता था। गिरवी भी रख सकता था। फिर वह युग आया जब बेचना बन्द हो गया। अब उसे मार-पीट के रूप मे दण्ड दिया जाने लगा। राज्य को कोई अधिकार न था कि पति के स्त्री को मारने-पीटने पर घरेलू मामलो मे दस्तदाजी करे। यद्यपि आज भी मार-पीट के इस विशेषाधिकार का सर्वथा लोप नही हुआ है पर अब प्रत्येक सभ्य राज्य मे स्त्री की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का सिद्धान्त मान लिया गया है, अब उसका एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व है और वह पुरुष मे विलीन नही है। कानून मे उसका एक निजी व्यक्तित्व है और उसे अपनी रक्षा और अस्तित्व के सम्बन्ध मे वे

सब कानूनी सुविधाएँ मिली हुई है जो पुरुष को प्राप्त है। स्त्री की प्रार्थना पर राज्य मार-पीट के घरेलू मामलो मे भी हस्तक्षेप कर सकता है। अब कुटुम्ब ने कमोवेश एक छोटे प्रजातन्त्र का रूप धारण कर लिया है। प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है। मुखिया को अन्य कुटुम्बियो पर कोई कानूनी अधिकार नही रह गया है। हिंसा नही, सहयोग की भावना और अपनी इच्छा अब कुटुम्ब में बने रहने का कारण है। बच्चो की ओर भी अब ध्यान दिया जा रहा है।

विवाह :—विवाह-संस्था मे भी प्रगति की यही दिशा रही है। आरम्भ मे कबीलो के साथ जितनी स्त्रियाँ होती थी वे सब की सामूहिक भोग-सामग्री थी। फिर धीरे-धीरे निर्वाचन का, चुनाव का क्रम जारी हुआ। कुछ शर्ते लगाई गई पर स्त्रिया को छीन लेजाने, भगाने और चुराने इत्यादि की प्रथाएं प्रचलित रही। मतलब जोर-जबर्दस्ती का विवाह-संस्था मे बोलबाला था। स्वयवरो तक मे शारीरिक पराक्रम की कसौटी ही अधिक प्रचलित थी। धीरे-धीरे इस प्रकार की जबर्दस्ती कम होती गई और आज, कम-से-कम कानूनी दृष्टि से, जबर्दस्ती विवाह करना नाजायज हो गया है। कोई भी बालिग स्त्री किसी भी प्रस्तावित पुरुष से विवाह करने या न करने के विषय मे स्वतन्त्र है। वह चाहे तो अपनी इच्छा को दृढतापूर्वक प्रकट करके किसी भी ऐसे विवाह को रोक सकती है जो उसे पसन्द न हो। प्रथाओ के कारण स्त्री-पुरुष को जीवन-सगी के स्वतन्त्र निर्वाचन मे जो बाधा पडती है उसके विरुद्ध भी आन्दोलन हो रहे है और दिन-दिन लोकमत इस विषय मे अनुकूल और प्रबुद्ध होता जाता है। दिन-दिन विवाह-संस्था मे समता के सिद्धान्त का विकास होता जा रहा है। यहाँ तक कि आर्थिक असमानताएँ भी मिटती जा रही है या उनको दूर करने के लिए आन्दोलन और सगठित प्रयत्न,

स्त्रियो की ओर मे भी और समझदार तथा नेकनीयत पुरुषो की ओर से भी, किये जा रहे है। बच्चो के प्रति दुर्व्यवहार या कठोरतापूर्ण व्यवहार के विरुद्ध भी आन्दोलन हो रहा है। उनको मारने-पीटसे का सभ्य समाज मे ज़बर्दस्त विरोध किया जाता है और ऐसे आदमियो को, जो अपने बच्चो को मारते-पीटते हो, लोग नीची निगाह से देखते है। शिशु-पालन और मातृत्व मे दिन-दिन सावधानी, वैज्ञानिकता और सहृदयता का समावेश होता जा रहा है। इसके सम्बन्ध मे प्रचलित अनेक कुप्रथाएँ लुप्त हो गई है। मजदूरी करके पेट पालने वाली गर्भवती स्त्रियो को प्रसव-सम्बन्धी सुविधाएँ दिलाने के लिए कानून बन गये है।

धर्म :—आरम्भ मे धर्म मे भय का बहुत अधिक मिश्रण था। बल्कि यह भी कह सकते है कि भय के ऊपर ही उसकी दीवार उठाई गई थी। इसीलिए उसमे पशु-बलि, मनुष्य-बलि, हिंसापूर्ण जबर्दस्ती और मतपरिवर्त्तन तथा कत्लेआम की अधिक पुट थी। इसके लिए और इसके नाम पर भयकर हिंसा होती थी। युद्ध होते थे। धीरे-धीरे भय की जगह व्यक्ति का निजी विश्वास, उसकी निष्ठा और श्रद्धा धर्म की प्रेरक शक्तियाँ बनती गई। दीर्घकाल के सघर्ष के बाद, अनुभव से यह विश्वास बढ़ता गया कि सहिष्णुता की नीव पर ही धर्म का भवन टिक सकता है। उदारता उसकी पहली शर्त्त है। आज सभ्य समाज मे मान लिया गया है कि धर्म व्यक्ति और उसके कर्त्ता के बीच का प्रश्न है। यह व्यक्तिगत, मानव की अत्यन्त निजी और उसकी आत्मा से सम्बन्ध रखने वाली चीज है। जिसका मन चाहे, बिना जबर्दस्ती के जिस धर्म को अगीकार करे। उसमे राज्य दखल नही देगा। यह व्यक्ति की अपनी सुविधा और स्वाधीनता का सवाल है।

शासन-सस्था :—शुरू मे जबरदस्त व्यक्ति के शब्द ही कानून

थे। राजा जो चाहता करता था। उसके लिए कोई नियम-बन्धन न थे। उसके समस्त अधिकार हिंसा पर आश्रित थे। प्रजा की इच्छा या सम्मति का कोई मूल्य न था। धीरे-धीरे राजा की व्यक्तिगत इच्छा का स्थान एक छोटे वर्ग ने ले लिया जो ज़बर्दस्त हो उठा था। बाद मे इसमे भी क्रमश सुधार होते गये। प्रजा अपने अधिकारो के प्रति सतर्क होती गई। उसने सगठन किया। सदियो तक विभिन्न देशो मे सघर्ष चलता रहा। प्रजा को बहुत त्याग और बलिदान करना पडा पर दिन-दिन उसकी शक्ति बढती गई और राजसस्था मे उसकी आवाज क्रमश प्रभावशाली होती गई। आज यह सिद्धान्त मान लिया गया है कि शासन-सस्था की शक्ति का एकमात्र स्रोत प्रजा या जनता है।

दण्डप्रथा :—एक जमाना था जब दण्ड व्यक्तिगत अधिकार का प्रश्न था। किसी ने एक की चोरी की, दूसरा कमजोर हुआ तो चुप बैठ रहा, मजबूत हुआ तो उसने पकडकर यथेच्छ दण्ड दिया। किसी ने आग लगाई, उसका हाथ काट लिया गया। किसी ने दूसरे की स्त्री की ओर कुदृष्टि डाली, उसकी ऑख निकाल ली गई या उसे मारकर पेड पर लटका दिया गया। असहिष्णुता और प्रतिहिसा से जीवन पूर्ण था। बाप का बदला लडका लेता था। प्रतिहिसा पुश्त दर पुश्त चलती थी। धीरे-धीरे इस प्रथा मे भी विकास हुआ है, वह बराबर सुधरती गई है। प्रति-हिसा का सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक रूप से हानिकर समझ लिया गया है और अपराधी मे अच्छी वृत्तियाँ जगाने की ओर आधुनिक दण्ड-विज्ञान की प्रवृत्ति है। यहाँ तक माना जाने लगा है कि अपराध करने मे अपराधी उतना जिम्मेदार नही जितना उसके इर्द-गिर्द का अथवा सामाजिक वाता वरण जिम्मेदार है। अपराधो की ज़िम्मेदारी अब व्यक्ति से हटकर समाज पर आने लगी है। कोई चोरी करता है तो अब उसे गर्हित और नीच नही

समझकर यह खयाल किया जाता है कि समाज की विषमता के कारण इसके बच्चे भूखों मरते होंगे अथवा उसे कोई अन्य अनिवार्य आवश्यकता होगी, तब इसने चोरी की। इसलिए इस चोरी के लिए अप्रत्यक्षरूप से वे लोग अधिक जिम्मेदार है जिनके यहाँ शोषण से कमाये हुए लाखो और करोडो रुपये व्यर्थ और फालतू पडे हुए है। यदि उसने किसी जरूरत के कारण नही, आदतन चोरी की है तो भी उसमे समाज की आंशिक जिम्मेदारी रहती ही है कि उसने व्यक्ति के विकास के अनुकूल वातावरण पैदा नही किया या उचित और हितकारी शिक्षण से वंचित रखा। दण्डप्रथा का आधार ही बदलता जा रहा है। अनेक देशो ने फाँसी की सजा उठ चुकी है। जहा अब तक है वहाँ भी उसे उठा देने की माँग धीरे-धीरे बढती जा रही है। दण्ड का स्थान मानसिक अपील और सुधार लेते जा रहे है। जेलो को सुधारगागृहो का रूप दिया जा रहा है। अपराधियो के हृदयो मे दबी मानवी वृत्तियो को उभार कर उन्हे जिम्मेदार और सुशील नागरिक बनाने की चेष्टा जारी है।

श्रम-संस्था—एक जमाना था जब श्रम लेनेवाले और देनेवाले के बीच मालिक और नौकर के सम्बन्ध का बडा ही भद्दा रूप था। नौकर का मतलब यह था कि उसका तन मन सब मालिक के अधीन है। नौकर को आदमी नही, जानवर समझा जाता था। वह बैल की तरह काम करता था ओर बैल की तरह ही वर्ताव उसके साथ होता था। जरा-सी गलती या मालिक के सन्तोष के अनुकूल कोई काम न होने पर उसे हण्टरो से पीटा जाता—कभी-कभी उसकी खाल उधेड जाती, कभी वह बेहोश होजाता, कभी उसके प्राण-पखेरू प्रयाण कर जाते। उसे अँधेरी गदी कोठरियो मे बद कर दिया जाता, खान-पीना न देकर उसे तडपाया जाता। अनेक स्थानो मे उसे विवाह करके गृहस्थ जीवन बिताने का

भी अधिकार न था और जहाँ कही था भी तहाँ नौकर का समस्त कुटुम्ब मालिक का गुलाम होता था। नौकर खरीदे जाते थे। और कुछ रुपयो के लिए उनकी सारी जिन्दगी निर्दय मालिक के हाथ बिक जाती थी। दोनो का सम्बन्ध जबर्दस्ती, हिंसा पर आश्रित था। सैकडो वर्षो मे यह सस्था धीरे-धीरे सुधरी है और गुलामी की प्रथा का अधिकाश देशो मे लोप होगया है। बेगार की प्रथा उठ गई है। श्रमिक अब आजीवन दासता की जजीरो से मुक्त होगया है। अब श्रम या मजदूरी काम करने वाले और काम करानेवाले के बीच का एक अपनी स्वतत्र इच्छा से किया हुआ सम्बन्ध या ठेका है। मालिक को जो रेट तै होगया है उसके अनुसार मजदूरी देनी पडती है। दोनो एक दूसरे से सम्बन्ध तोड लेने के लिए स्वतत्र है। अब श्रमिक या काम करनेवाला यह नही समझता कि काम देकर काम देनेवाले ने उसको कुछ दान कर दिया है। अब कम से कम सिद्धान्त मे, दोनो पक्ष समान स्थिति और मर्यादा रखते है। एक काम करता है, दूसरा उस काम के लिए पैसे देता है। यह सुविधाओ का परस्पर अदला-बदला है, इसमे कृपा की कोई बात नही। यही नही जिन देशो मे जागरण की लहर फैल गई है वहाँ तो उलटे काम करने वाला अब यह अच्छी तरह समझने लगा है कि जो पैसे उसे मिलते है वे उसके काम के बदले मे कम ही मिलते है। इसलिए कृपा तो इसमे कतिना नही है, उलटे कुछ अन्याय ही है। इस अन्याय को दूर करके उचित मजदूरी प्राप्त करने के लिए मजदूरो एव काम करने वालो का, हर पेशे और हर क्षेत्र मे, दिन-दिन सगठन होता जा रहा है। वह सगठन अब काफी प्रभावशाली भी बनता जा रहा है। इस आन्दोलन के प्रभाव से तथा लोकमत की अनुकूलता के कारण काम करने के वक्त मे बराबर कमी होती जाती है। अब दुकानो तथा घरो मे निजी नौकरो के

रूप में काम करने वालों के काम का समय भी निश्चित करने के लिए आवाज़ उठाई जाने लगी है और चूंकि न्याय इस मांग के साथ है, कुछ दिनों में अवश्य ही इसमें भी सफलता मिलेगी। फिर समय और मजदूरी का ही सवाल नहीं है। श्रमिक में अब पहले की अपेक्षा आत्म-विश्वास है। उसे आज अपनी ताकत का अधिक भान है। आज वह दया का भूखा नहीं, अपने अपने अधिकारों का लड़नेवाला बन गया है। उसने अपने साथ सज्जनतापूर्ण व्यवहार किये जाने की भी मांग की है और इस मांग में आंशिक सफलता उसे मिल भी गई है। बड़े-बड़े कल-कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों को स्वच्छ हवादार मकान, अस्पताल, शास्त्र तथा अनेक बातों की सुविधाएँ दिलाने की चेष्टा शासन और सरकारों की ओर से भी, जारी है। मतलब यह कि एक दिन श्रम-संस्था में जो जबर्दस्ती और हिंसा थी वह क्रमशः लुप्त होती गई है। सुविधाओं और धन-वितरण की विषमताओं के कारण अप्रत्यक्ष हिंसा तो आज भी है फिर भी पहले की अपेक्षा श्रमिक कहीं अधिक स्वतन्त्र होगया है और उसके प्रति की जानेवाली जबर्दस्ती बराबर कम होती गई है और कम होती जा रही है। अप्रत्यक्ष हिंसा के विरुद्ध भी जनमत सगठित होता जा रहा है।

इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यही क्रम रहा है। मानवता की गति हिंसा की जगह अहिंसा और संघर्ष की जगह सहयोग की ओर रही है। मानवता का इतिहास इसी प्रेम-प्रवृत्ति के परिष्करण और विकास का इतिहास है। सभ्यता का का विकास, सहानुभूति, प्रेम, सहयोग, अहिंसा और सत्य को लेकर ही सम्भव हो सका है।

सुधार के लिए आन्तरिक और बाह्य साधनों का समन्वय

जो बात व्यक्ति के लिए रही है वही समष्टि के लिए भी सत्य है।

जबतक समष्टिगत सम्बन्धो मे भी प्रेम, सत्य, उदारता, सहयोग, सहिष्णुता इत्यादि मानवोचित गुणो को नहीं अपनाया जाता तबतक समाज एव व्यक्ति दोनो के जीवन अन्धकार, दु ख और अतृप्ति से भरे हुए रहेगे। मनवता ने व्यक्ति के सुधार और परिष्कार के लिए तथा उनसे सामाजिक, सभ्य और शिष्ट बनाने के लिए सदा दोहरे उपाय का अवलम्बन किया है। इसने उसके मन मे ज्ञान को जाग्रत किया और अन्दर से उसे परिष्कृत और सभ्य बनाने की चेष्टा की। यह आन्तरिक सुधार का क्रम था। इस आन्तरिक साधन के साथ उसने बाहरी दबाव का भी अवलम्बन किया। उसने ऐसी परिस्थिति, प्रतिबन्ध तथा कठिनाइयाँ पैदा की जिनसे मनुष्य की समाज-हित-विरोधी प्रवृत्तियाँ रुक जायँ या कठिन और असभव हो जायँ। पहले को हम मनोवैज्ञानिक, मानसिक, आन्तरिक, नैतिक या आध्यात्मिक प्रयत्न कह सकते है। दूसरे को सामाजिक कानूनी दबाव या शिष्टाचार कहा जा सकता है। सुधारको, महात्माओ और पैगम्बरो ने पहले (आन्तरिक सुधार के) उपाय का अवलम्बन किया, उन्होने व्यक्ति के मन को उदार और उच्च बनाने की चेष्टा की। इनके उपदेशो को स्थायी बनने और उनके विरुद्ध चलने को कठिन बना देने के लिए शासको, राजनीतिज्ञो और स्मृतिकारो ने नियम बनाये। इस प्रकार आन्तरिक और बाह्य दोनो प्रकार के साधनो का अवलम्बन, व्यक्ति के सुधार-क्रम मे, सर्वदा लिया जाता रहा है। जब-जब इनमे से एक की उपेक्षा की गई, एक का प्रभाव नष्ट होगया या वह दूसरे की भावना के विरुद्ध चला गया तब-तब व्यक्ति का पतन हुआ है और अन्त मे दोनो साधन विकृत, भ्रष्ट और बेअसर होगये है। आन्तरिक और बाह्य दोनो साधनो को साथ-साथ, एक दूसरे को शक्तिमान बनाते हुए, चलना चाहिए। एक के बिना दूसरा लँगडा रहेगा। इसका एक उदाहरण

राष्ट्र-संघ के रूप में हमारी आँखों के सामने है। उसकी सफलता का प्रधान कारण यह है कि तत्सम्बन्धी आन्तरिक प्रयत्न और साधन को अभीतक दुनिया ने अपनाया नहीं है। अभीतक उसका अहिंसा और सत्य में विश्वास नहीं है। बिना मानसिक तैयारी के बाहरी दबाव केवल वंचना है। समूह और समाज की तो बात जाने दीजिए, औसत व्यक्ति तक अभी सत्य और अहिंसा को ग्रहण करने में हिचकिचाता है। वह समझ नहीं पा रहा है कि युद्ध और आक्रमण से देश की रक्षा उसके द्वारा किस प्रकार की जा सकती है। ऐसी हालत में बाहरी दबाव या संस्था अवश्य असफल होगी। उसमें सम्मिलित होनेवालों में स्वयं सुधार एवं विकास का आन्तरिक क्रम अभीतक प्रकट नहीं हुआ है। इसीलिए संघ न केवल बुरी तरह असफल हुआ है वरन् अपने लक्ष्य की विरुद्ध दिशा में जा रहा है और स्वार्थी राष्ट्रों के हाथ में एक अस्त्र मात्र बनकर रह गया है।

हल क्या है ?

ऐसी विषमता, विश्वासहीनता और अंधकार से भरी दुनिया में गांधी जी अपने सत्य और अहिंसा के संदेश के साथ आये हैं। उन्होंने एक ऐतिहासिक आवश्यकता और धर्म की पूर्ति का प्रयत्न किया है। यह हमारा सौभाग्य है कि उनमें न केवल आन्तरिक और मनोवैज्ञानिक तैयारी है बल्कि उसके साथ संघटना-शक्ति भी यथेष्ट है। हिंसा, धूर्तता, युद्ध और अविश्वास के इस युग में, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और पक्ष में, सत्य और अहिंसा की अनिवार्यता में उनका दृढ़-विश्वास देखकर लोगों का आश्चर्य करना स्वाभाविक है। यदि उनमें अपने सिद्धान्तों का कुशलतापूर्वक संघटन कर सकने की शक्ति न होती तो लोग उनकी बातों को स्वप्नदर्शी

के प्रलाप समझते पर उन्होंने इन सिद्धान्तों के अनुसार बाहरी दबाव का सघटन करके अत्यन्त प्रभावकारी परिणामो की सृष्टि की है। जिस दिन इन सिद्धान्तो के अनुसार सघटन और क्रियात्मक प्रयत्न से वह भारत की समस्या को हल करने में सफल हो जायँगे उस दिन दुनिया स्वत इन्हे मान लेगी क्योकि उसे युद्ध या सगठित सामूहिक हिंसा का सामना करने के लिए उसी की जोड का, बल्कि उससे भी श्रेष्ठ और कम खर्चीला, साधन प्राप्त हो जायगा—ऐसा साधन जिसकी शक्ति का प्रदर्शन वह देख चुकी होगी। भारत की स्वाधीनता की समस्या को सत्य और अहिंसा के उपायो से हल करने के गाधीजी के प्रयत्न का यही रहस्य है। यह ससार को एक अत्यन्त शक्तिमान पर निर्दोष अस्त्र प्रदान करने के लिए है जिसके द्वारा मानव-समाज मे व्यक्ति और समष्टि के लिए जो दो बिल्कुल जुदी नैतिक कसौटियाँ और मूल्याधार प्रचलित है उनका अन्त हो जायगा। यह कहना बहुत कठिन है कि निकट भविष्य मे ससार इस सत्य को अपना लेगा या नही। जो समाज सदियो से हिंसा को शक्ति का प्रधान अस्त्र मानता और समझता आया है वह अगर सौ वर्ष मे भी अहिंसा को ग्रहण करले तो समझना चाहिए कि क्रान्तिकारी गति से वह सभ्यता के क्रम मे आगे बढा है। मानवता के विकास मे सौ-दो-सौ वर्ष समय की बहुत छोटी इकाइयाँ है।

इन नूतन अस्त्रो के सहारे भारतीय स्वतन्त्रता-युद्ध की तीन लडाइयाँ लडी गई है और तीनो मे राष्ट्रीय शक्ति के जागरण का आश्चर्यजनक प्रदर्शन हमने देखा है। हिंसात्मक युद्ध से इनकी तुलना करते है तो आँखे खुल जाती है। इन युद्धो मे भौतिक दृष्टि से दुर्बल और विशृखल एक राष्ट्र ससार के एक परमशक्तिशाली साम्राज्य के विरुद्ध खडा हुआ था पर व्यापार-व्यवसाय चलता रहा, लोगो के दैनिक जीवन-क्रम मे कोई

गडवटी नही आई, मरनेवालो की मख्या नगण्य रही, घृणा का भाव वहुत कम फैला। अनाथो और विधवाओ के चीत्कार से आकाश कम्पित नही हुआ जो हिंमात्मक युद्धो का एक निश्चित परिणाम है। जो लोग युद्ध मे अलग रहे उनकी जिन्दगी तथा मम्पत्ति मर्वथा मुरक्षित रही। इममे छोटे क्षेत्र तथा परिमाण मे होनेवाले हिंमात्मक युद्ध के मामने उतने वडे व्यापक युद्ध से जो थोडी वहुत क्षति हुई वह विल्कुल नगण्य है, लाभ उमकी अपेक्षा कही अधिक हुआ। दोनो पक्षो की भौतिक क्षति वहुत ही कम हुई पर अत्याचारी की नैतिक साग्व एक दम नष्ट हो गई। इन तीनो युद्धो के वाद विदेशी का भय नष्ट हो गया, उमके जादू का प्रभाव टूट गया। उसकी इज्ज़त ख़त्म हो गई, उमका नैतिक प्रभाव समाप्त हो गया, उमकी रीढ टूट गई। यह ठीक है कि म्वराज्य नही मिला पर १५ या २० वर्ष मे मैकडो वर्षो की गुलामी का दूर होना असम्भव था। स्वतन्त्रता के लिए इटली और आयरलैण्ड के हिंमात्मक युद्ध मैकडो वर्षो तक चलते रहे। लाखो मारे गये, करोडो की मम्पत्ति नष्ट हो गई और प्रतिहिंसा तथा घृणा का कैसा ताडव देखने मे आया। पुश्त-दर-पुश्त के लिए घृणा स्थायी हो गई जिसके कारण आगे भी वरावर लडाइयो का सिलसिला जारी रहा। मानवता को कितना दु ख-दर्द झेलना पडा और आज भी वही घृणा की परम्परा चल रही है। गाधीजी ने ऐसे भयनक हिंमात्मक युद्ध के साधन की जगह एक नैतिक अहिंमात्मक उपाय खोज निकाला। उसकी खोज करके ही वह वैठ नही रहे वल्कि इस खोज के वाद उन्होने उमका मघटन किया, और उसे क्रियात्मक रूप देकर प्रभावशाली वनाया। इस प्रयोग के कई स्पष्ट और निश्चित रूप से लाभकारी परिणाम निकले। इसने ससार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया।

सच्चे सत्याग्रही के मन मे विरोधी या किसी के प्रति कोई अशुभ

भावना नहीं होती पर सत्याग्रह के सामूहिक प्रयोग मे वह केवल अपने आन्तरिक, आध्यात्मिक एव व्यक्तिगत आत्मबल पर ही निर्भर करके नही बैठ रहता। निश्चय ही उसकी सम्पूर्ण शक्ति का स्रोत यही है पर वह इस शक्ति को सगठित करता, उसे सस्थाओ के द्वारा चलाता और यो बाह्य रूप देता तथा उसके दबाव से युद्धनीति का काम लेता है। अनेक विरोधी हमारी त्रुटियो की ओर सकेत करके अहिंसा और सत्य पर व्यग करते है। पर याद रखना चाहिए कि प्रत्येक आन्तरिक, आध्यात्मिक शक्ति जब बाह्य क्षेत्रो मे प्रयुक्त होती है तो उसे मिली-जुली, दोषगुणमय सामग्री का उपयोग करना पडता है इसलिए उसमे कुछ न कुछ दोष आ ही जाता है। पूर्णात्मा रूपहीन है। उसे बाह्य साधनो की सहायता लेने की आवश्यकता नही पडती। जब तक हमे दुनिया मे रहना और उसमे भाग लेना है हम इतना ही कर सकते है कि जहाँ तक सम्भव हो प्रत्येक उपाय से अपनी आत्मिक शुद्धता को अधिक-से-अधिक सुरक्षित रखे और हमारी गति आगे की ओर हो।

मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि समष्टिगत सम्बन्धो मे अहिंसा का, सदाचरण का समावेश ही हमारी सामाजिक समस्याओ का हल है। मानव-समाज की गति इसी प्रेम-भावना की ओर रही है। उसका सुधार, परिष्कार और विकास इसी को लेकर हुआ है। इसे अपनाये बिना उसे गति नही। चाहे कोई इसे स्वीकार करे या अस्वीकार, अन्त मे इसी की विजय होगी। पर यदि हम इसे समझले तो विकास की गति को तेज कर सकते है और मनुष्यता को उसके लक्ष्य की साधना मे सहायता दे सकते है।

नवीन और प्राचीन में अन्तर

वैसे प्रेम का यह सिद्धान्त और क़ानून कुछ नया नही है। युगो से

विभिन्न देशो मे महापुरुषो ने इसका उपदेश किया है, इस पर चलने के लिए लोगो को प्रेरणा की है। पर इसका प्रयोग मुख्यत व्यक्तिगत सवधो मे ही होता रहा है। गाधीजी ने समष्टिगत सम्बन्धो मे भी उसकी अवतारणा की है।

पर इसके अलावा भी उनके प्रयोग में कुछ विशेषता है। धर्मात्मा ऋषियो और महापुरुषो ने जिस प्रेम-सिद्धान्त (अथवा अहिसा) की दीक्षा दी थी वह प्रधानत मानसिक, आन्तरिक और व्यक्तिगत था। इसका क्रियात्मक प्रयोग भी था पर यह ससार की भौतिक समस्याओ को निकट वर्तमान मे हल नही कर सकता था। यह केवल निजी अन्त शक्ति पर आश्रित होता था। यदि इसके प्रयोग से निकट भविष्य मे वाछनीय फल न मिले तो समझ लिया जाता था कि किसी-न-किसी समय या प्रकार यहाँ अथवा दूसरी दुनिया मे इसका फल अवश्य मिलेगा। इसका क्षेत्र यह ससार नही था। अपनी निष्ठा मे यह पक्का था और यही फल पाने की उसे कोई परवा न थी। इसीलिए अहिसा की प्राचीन धारणा ने अपने को सगठित करने का प्रयत्न नही किया। यह या तो व्यक्तियो तक सीमित थी या बोद्धो और ईसाइयो की तरह जब भी इसके सगठन का प्रयत्न किया गया तो इसका उद्देश्य सहधर्मियो को धर्म-चिन्तन के क्षेत्र मे सहायता पहुँचाना या धर्म-प्रचार मात्र था। सासारिक प्रश्नो के प्रति धर्मिष्ठ लोग उदासीन रहते थे—जो कुछ भगवान की इच्छा होगी, होगा। बुराई को ईश्वर की कृपा का ऐसा विश्वास न था इसलिए उसे आश्रय देनेवाले अपना सगठन करते गये। फल हम आज देख रहे है—यद्यपि सज्जनो, धर्मात्माओ मे आन्तरिक शान्ति और आनन्द का अभाव नही है पर वचको और शोषणकर्त्ताओ ने सगठित होकर दुनिया की सब विभूतियो पर एकाधिकार कर रखा है।

पुराना प्रेम-सिद्धान्त अप्रतिरोध का सिद्धान्त था। यह बुराई का विरोध नही करता था। इसका कहना था कि कोई कोट मॉगे तो उसे अपना चोगा उतारकर दे देदो, कोई एक गाल पर थप्पड मारे तो दूसरा गाल भी सामने कर दो। एक हिन्दू सन्त की कथा प्रसिद्ध है। रात को उनकी कुटी मे चोर घुसा। वहॉ उस बेचारे के लिए क्या था ? सन्त ने सोचा—बेचारा निराश होकर लौटेगा इसलिए जो कम्वल ओढे हुए थे उसे यो फेक दिया कि चोर को लेजाने मे सुविधा हो। इसमे सन्देह नही कि ऐसी कथाओ मे भी एक शिक्षा है। वह चोर सन्त की असाधारण उदारता और त्याग से प्रभावित हुआ और स्वय सन्यासी और तपस्वी होगया। पर विना उचित वाह्य सगठन के इस तरह का सिद्धान्त केवल सन्यासी, ससार-त्यागी के लिए ही उपयोगी हो सकता है। दुनियावी मामलो मे यह नही चल सकता। आत्मचिन्तन और आत्मसाक्षात्कार के के लिए अवश्य यह उपयोगी है पर समष्टिगत सम्वन्धो एव सामाजिक जीवन के नियत्रण, परिष्करण और सगठन मे यह कुछ विशेप लाभदायक नही हो सकता। इसीलिए शासन सस्था, राजनीति और सामूहिक सम्वन्धो मे यह प्रभावकारी न हो सका। क्योकि इनका सम्वन्ध व्याव-हारिक परिणामो एव सुविधाओ से है। व्यक्ति ज्ञानोन्मेप की अवस्था मे सव भौतिक सुविधाओ का त्याग कर सकता है। वह केवल अपने निश्चय और इच्छा से वैसा करता है पर जनसमूह भूखा और सर्वहारा होकर अधिक समय तक नही रह सकता। वह भावी एव अनिश्चित आनन्द की आशा मे पडकर कपडे-लत्ते, भोजन तथा वाल-बच्चो की विविधि सुविधाओ की चिन्ता का त्याग नही कर सकता। जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति उसके लिए आवश्यक है। इसलिए अहिंसा, सत्य एव प्रेम के सिद्धान्त को जन-समूह तभी ग्रहण करेगा जव उसके सगठन

से तुरन्त कुछ फल निकल सके। गाधीवाद ने जिस अहिंसा की उद्भावना की है उसमे प्राचीन से यही अन्तर है। यह किसी प्रकार के अन्याय के निराकरण के लिए सगठित की जा सकती है और इसे युद्ध का रूप दिया जा सकता है। यह निष्क्रिय शक्ति नही है। यह कार्य, सगठन, लडाई और प्रतिरोध का एक अत्यन्त शक्तिमान और क्रियात्मक सिद्धान्त है। केवल शारीरिक सघर्ष को यह वचाता है पर नैतिक विरोध मे यह वडा प्रवल है।

गाधीवाद व्यक्ति और समष्टि के सघर्ष को इस प्रकार दूर करना चाहता है। उसकी घोषणा है कि दोनो के सहयोग मे ही मानवता की सच्ची उन्नति सभव है। व्यक्ति के लिए उसका सन्देश आत्मशुद्धि और समाज-हित के लिए स्वार्थ-त्याग है। समाज के लिए उसका सन्देश व्यक्ति की स्वतत्रता की रक्षा करते हुए सामूहिक सम्बन्धो मे सात्त्विकता स्वच्छता, प्रेम और सहयोग को अपनाना है। दोनो मे जो विषमता आज है उसे दूर किये विना ससार मे शान्ति नही हो सकती। दोनो को सदाचरण के एक ही धरातल पर खडा करना पडेगा। तभी सामूहिक वचना शोषण, पाखण्ड, अन्याय और विषमता का अन्त होगा। गाधीवाद ने केवल रोग का ही निदान नही किया है वरन् उस रोग को दूर करने और समाज की काया तथा मानस को नीरोग एव स्वस्थ करने लिए क्रियात्मक उपायो की भी खोज की है। ससार मे समता और शान्ति लाने के लिए अहिसा और सत्याग्रह की युद्धनीति का पूरा विज्ञान ही उसने हमें भेट किया है। यह मानवता को उसकी वहुत वडी देन है। यह भारत की अन्त प्रतिभा के अनुकूल ही हुआ है। ससार का भविष्य इसपर निर्भर है और मानव-सस्कृति इसका आश्रय लिए विना पनप नही सकती।*

*आचार्य कृपलानी की 'अहिसात्मक क्रान्ति' (अग्रेजी) के आधार पर

१०

आधुनिक भारतीय इतिहास में

गांधी-युग—१

[देन और प्रवृत्तियां]

राष्ट्र की आत्मा का प्रथम जागरण

१९१९ का साल था। भारत के क्षितिज पर बादल का एक छोटा-सा टुकडा दिखाई दिया। उस समय वह भय और विचार की जगह विनोद और कौतूहल का विषय अधिक था। पर एक वर्ष बीतते न बीतते वह समस्त आकाश मे छा गया। बिजली की कडक से मेदिनी कॉप उठी। राष्ट्रीय आकाक्षाओ के सूख-से रहे अकुर इस वर्षा से हरे होगये। दिलो के अन्धकार मे प्रकाश की एक कौध, और हमने किंचित् आश्चर्य से इर्द-गिर्द टटोलकर देखना शुरू किया कि हम कहाँ है और क्या है? हमारे मन अयाचित, असम्भावित घटनाओ की ओर इशारा करके मानो पूछ रहे थे कि अभी क्या था और क्या होगया और यह कि क्या यह सम्भव है?

आज १९३९ की राजनीतिक घटनाओ का विद्यार्थी उस आकस्मिक परिवर्तन की कल्पना नही कर सकता, जो १९१९ और २० मे, अपनी असाधारणता के कारण एक आश्चर्य और दैवी घटनाओ की भॉति हमारे जीवन मे आया। जैसे खुले आकाश के नीचे घोर निद्रा मे पडा आदमी एकाएक जोर की आधी एव वर्षा आजाने से घबडाकर उठ खडा होता है और अपनी स्थिति के अनुसार अपने को व्यवस्थित—adjust—कर लेने मे बुद्धि और विचार की अपेक्षा प्रेरणा से ही अधिक शासित होता है, कुछ वैसी ही दशा हमारे मन की भी थी। एक अननुभूत प्रेरणा यन्त्र की भॉति हमारा सचालन कर रही थी और हम किंचित् गौरव, किंचित् आश्चर्य और किंचित् सम्भ्रम के साथ एक महान् आलोडन को, स्वय चक्राकार घूमते हुए देख रहे थे।

यह ठीक है कि १९०५ के बग-भग एव तत्सम्बन्धी स्वदेशी आन्दो-

लन ने राष्ट्रीय चेतना के पिजरबद्ध पखी मे एक स्पन्दन उत्पन्न किया था और यह भी ठीक है कि उसने साहित्य, विज्ञान और कला की दुनिया में एक अद्भुत भावावेश का सर्जन किया। हमारे साहित्य के जीवन मे इस युग का लगभग वही महत्त्व है, जो यूरोपीय इतिहास मे 'रिनैसा' का है। इस भावावेश ने रवीन्द्रनाथ, अवनीन्द्रनाथ, जगदीश वोस इत्यादि के निर्माण में बडी सहायता की।

पर इस स्फूर्ति को ठीक-ठीक समझने और ग्रहण करने का काम न हो सका। जीवन-व्यापी उपयोग की वात तो दूर रही, राजनीति मे भी उसका उचित प्रयोग न किया जा सका। जो उद्वेग राष्ट्र के एक भाग मे उत्पन्न हुआ था, वह अस्पृश्य-सा रह गया। हमने एक स्वप्न तो देखा, पर निद्रा न टूटी। वात प्राणो मे न समायी। हवा आयी और प्राणो के ऊपर ही ऊपर हमारे अन्त चेतन को स्पर्श किये विना निकल गयी। एक सिहर हुई और फिर राष्ट्र ओढकर सो गया।

इस सुषुप्ति पर कुछ युवको को, जिन पर देश-प्रेम का नशा चढ रहा था, खीझ भी हुई। यह वही खीझ थी, जो क्रान्तिकारी आन्दोलन के रूप मे कभी यहा, कभी वहा, कभी वगाल मे, कभी पञ्जाव मे, कभी महाराष्ट्र तथा युक्तप्रान्त में मे, कभी देश के वाहर, सनसनीखेज घटनाएँ पैदा करती रही। इनकी ज्वलन्त देशभक्ति एक आश्चर्य की भाति भारतीय वातावरण मे चमकी। यह आन्दोलन किसी न किसी रूप मे वना रहा है और आज भी विलकुल समाप्त नही हुआ है। इसमे भी विविधता रही है। भिन्न-भिन्न दल एव समूह विभिन्न भाव-सरणियो से अनुप्राणित होते रहे है। उनकी विचार-धारा एक नही रही, पर देश की मुक्ति की प्रेरणा स्पष्ट अथवा धुधले, किसी न किसी रूप मे, अवश्य सबमे रही है।

राष्ट्रीय चेतना के जागरण के क्रम-विकास के इतिहास मे इन आन्दोलनो का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्होने वीच वीच मे अन्धकार मे चमकनेवाली चिनगारियो की तरह एक भावना को सदा जीवित रखने का प्रयत्न किया—वह भावना, जो १८५७ के स्वातन्त्र्य-युद्ध के वाद शिथिल और मृतप्राय सी पडी रही है। इन्होने उस भावना को 'इञ्जेक्शन' दे-देकर जीवित रखा और स्वतन्त्रता के प्रयत्नो की परम्परा कायम की। इतिहासकार इनको श्रद्धाञ्जलि और अर्घ्य दिये विना आगे नही वढ सकता।

पर इन प्रयत्नो की अपनी महत्ता होते हुए भी यह कहना कुछ अनुचित न होगा कि जव १९१८ मे महायुद्ध समाप्त हुआ, देश मे सामूहिक उत्तरदायित्व और सर्वागीण जागरण की कोई चेतना न थी। राष्ट्र-शरीर के कई अगो मे वेचैनी थी, पर कोई सर्वग्राही भाव राष्ट्र के अन्त करण से उठने नही पा रहा था। आत्मा विस्मृत, सुप्त एव दवी हुई थी। लोग वोलते थे, पर उनकी वाणी आपस मे टकरा जाती थी। कोई ऐसी शक्ति नही थी जो सव मे व्याप्त होकर, फिर भी सवके ऊपर उठकर, सवपर छा जाय—जो हमारे मन प्राण शरीर सवको अभिभूत कर ले। साधक को मन्त्र तो दिया जा चुका था, पर आत्मयोग के लिए अनिवार्य शक्ति का आवाहन और सञ्चार न हो पाया था। शक्ति थी, पर वह विकृत, विश्रृखल, आत्मविस्मृत और जड हो रही थी।

ऐसे ही समय एक दुवले, देखने मे गवार-से, आदमी की वाणी सुनाई दी। इस वाणी मे कुछ अद्भुत वल था, जिसने लक्ष-लक्ष हृदयो को स्पर्श किया। एक कोने से यह वाणी उठी और देखते-देखते सव वाणियो के ऊपर छा गई। प० ज्वाहरलाल ने इसका जिक्र करते हुए अपने महाग्रन्थ 'ग्लिम्पसेस आव् वर्ल्ड हिस्ट्री' (विश्व-इतिहास की झलक) मे ठीक

ही लिखा है —" But this voice was somehow different from the others It was quiet and low and yet it could be heard above the shouting of the multitude, it was soft and gentle and yet there seemed to be steel hidden away somewhere in it, it was courteous and full of appeal and yet there was something grim and frightening in it, every word used was full of meaning and seemed to cary a deadly earnestness Behind the language of peace and friendship there was power and the quivering shadow of action and a determination not to submit to wrong We are familiar with that voice now but it was new to us in February and March, 1919 We did not quite know what do make of it, but we weae thrilled This was something very different from our noisy politics of condemnation and nothing else, long speeches always ending in the same futile and ineffective resolutions of protest which nobody took very seriously This was the politics of action, not of talk " अर्थात् "किन्तु यह आवाज दूसरो से कुछ भिन्न थी। यह शान्त और धीमी थी, फिर भी सर्वसाधारण के शोर के ऊपर सुनाई देती थी। यह मुलायम और नम्र थी, फिर भी इसमे कही फौलाद (का कडापन) छिपा हुआ था। यह मीठी और अपील से भरी हुई थी, फिर भी इसमे कोई दृढ और डरावनी चीज़ थी। उसमे इस्तेमाल किया हुआ प्रत्येक शब्द अर्थ से भरा था और उसके पीछे जबर्दस्त सच्चाई मालूम पडती थी। शान्ति और मित्रता की भाषा के पीछे शक्ति और क्रिया की कापती हुई छाया थी और अन्याय के आगे न झुकने का निश्चय था। आज तो हम इस आवाज से परिचित होगये है परन्तु फरवरी-मार्च १९१९ में वह हमारे लिए नई थी। हम ठीक तरह नहीं जानते थे कि इसका क्या करना चाहिए, पर हम पुलकित हो उठे। निन्दा की हमारी शोरगुल-भरी राजनीति से यह कुछ एक बिल्कुल जुदा चीज

थी—उस राजनीति से यह विल्कुल भिन्न थी, जो सदा विरोध के निस्सार और वेअसर प्रस्तावो मे, जिन पर कोई ज्यादा ध्यान न देता था, खत्म होती थी। यह क्रिया की, लडाई की राजनीति थी, वातचीत और विवाद की राजनीति नही।"

दो व्यापक परिणाम

भारतीय राजनीति मे गाधीजी के आगमन के तुरन्त दो परिणाम हुए। पहली वात तो यह कि राजनीति फैशन और विनोद की चीज की जगह शक्ति और अध्ययन की चीज वन गई। वह रईसो के महलो से निकलकर सर्वसाधारण की झोपडियो की तरफ मुडी। 'सरो' और राय-वहादुरो की सीमा के वाहर चली गई। धीरे-धीरे, पर निश्चित गति से वह जनता—'मासेस—की तरफ आकर्षित होने लगी। पहली वार लाखो ग्रामीण एव अशिक्षित लोगो ने इसमे दिलचस्पी ली। फलत वे मुट्ठी-भर लोग, जो अभी तक आराम और वैभव का जीवन विताते हुए केवल प्रस्ताव पास कर देने तक अपनी राजनीति की सीमा समझते थे, जिनकी देशभक्ति उनके भाषणो की सुन्दर अग्रेजी भाषा से जाची जाती थी, इस से अलग होगये। पहली वार राजनीति मे सर्वसाधारण की वाणी की हुकार प्रतिध्वनित हुई और क्लवो की जगह जेलो मे उसका सिञ्चन आरम्भ हुआ।

दूसरा परिणाम यह हुआ कि पहली वार देश के सामने आजादी हासिल करने के लिए एक खुला हुआ कार्यक्रम रक्खा गया। देश को केवल एक स्पष्टत घोषित कार्यक्रम ही नही मिला, वरन् इससे भी अधिक महत्त्व की वात यह हुई कि उसे एक ऐसा साधन भी गाधीजी से मिला, जिससे जनता को स्वतन्त्र होने की पहली वार व्यापक सम्भावना हुई। इसके पूर्व के क्रान्तिकारी आन्दोलन हिंसा एव षडयन्त्र के कारण स्वभावत

गुप्त एव गोपनीय थे। सर्वसाधारण से उनका सम्बन्ध न था। लोगो की इच्छा-अनिच्छा का उनपर कोई प्रभाव न पडता था। इसलिए उनके कार्यक्रम भी सीमित थे और उनमे बहुत थोडे लोगो का जीवन तथा विचार-धारा प्रतिबिम्बित होती थी। देश की स्वतन्त्रता-प्राप्ति का कार्य-क्रम किस प्रकार, किन उपायो और साधनो से पूरा किया जायगा, इसकी कोई स्पष्ट योजना लोगो के सामने न थी। यह स्पष्ट था कि भारत-जैसे निरस्त्र देश मे हिंसा के द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य की सुदृढ दीवारो को हिलाया नही जा सकता था। हिंसा-अहिंसा की तात्त्विक विवेचना को छोडकर शुद्ध व्यावहारिक कार्यक्रम की दृष्टि से भी इन बातो का कुछ अधिक मूल्य नही था। हिंसापूर्ण उपायो से देश की स्वतन्त्रता की सिद्धि केवल दो ही प्रकार सम्भव हो सकती थी।

१ खुली बगावत,

२ ब्रिटेन के शत्रु-देशो से मिलकर षडयन्त्र तथा बगावत।

हिंसात्मक क्रान्ति की असम्भाविता

यह स्पष्ट है कि भारत मे इस प्रकार के सफल विद्रोह की सम्भावना कम-से-कम थी। पहले तो महायुद्ध के पूर्व, या बाद मे भी, ब्रिटेन की स्थिति दुनिया मे बहुत मजबूत थी। पूर्व मे तो कोई राष्ट्र उसका सामना करने की हिम्मत ही नही कर सकता था। जनता का अधिकाश भाग निरस्त्र था। थोडे-बहुत जो शस्त्र सग्रह किये जा सकते थे, वे भी पुराने ढग के, भोडे और नवीन शस्त्रास्त्रो के विरुद्ध व्यर्थ तथा निष्फल थे। देश मे उपयोगी अस्त्र-शस्त्र-निर्माण की सुविधाएँ नगण्य थी। गोपनीय कार्यक्रमो एव षड्यन्त्रो का निभाना देश के संस्कार एव परम्परा के विरुद्ध था। इस बात को उस समय के अनेक प्रसिद्ध क्रान्तिकारियो ने भी

स्वीकार किया है । देश की जनता के क्रियात्मक सहयोग की तो कोई बात ही न थी, क्योकि वह इस विषय मे अन्धकार मे रहती थी और कभी-कभी प्रकट हो जाने वाली घटनाओ की ओर आश्चर्य एव कौतूहल के साथ देखती थी । देश के अधिकाश भाग, विशेषत उत्तर भारत में, मैदान होने तथा उनमे आवागमन के द्रुत साधनो की पर्याप्तता के कारण, क्रान्ति के लिए प्राकृतिक सुविधाओ का भी अपेक्षाकृत अभाव था ।

इस प्रकार जब गाँधीजी ने भारतीय राजनीति के क्षेत्र मे पदार्पण किया, तब हमारे सामने न तो स्वतन्त्रता का कोई सगठित कार्यक्रम था, न किसी ऐसे साधन का पता था जिससे स्वतन्त्रता प्राप्त करने की व्यापक रूप से आशा की जा सके । सगठित सशस्त्र क्रान्ति असम्भव थी और व्यक्तिगत आतकवाद व्यर्थ था । इसका प्रभाव जनता पर और बुरा पडता था । इसलिए भारत की आत्मा अभिव्यक्ति के साधन के अभाव मे शिथिल, पीडित और मूर्छित थी । जो बेचैन थे, उनमे भी कुछ कर न सकने की खीझ और असफलता का दश था । गाधीजी ने पहली बार रोग का ठीक निदान किया और उन्होने राष्ट्र को एक ओर तो अपने को अभिव्यक्त करने का मौका प्रदान किया दूसरी ओर उस अभिव्यक्ति के योग्य साधन दिये । उन्होने देश से कहा कि यह ब्रिटेन की अपनी शक्ति नहीं, वरन् उसे मिलने वाले तुम्हारे सहयोग की शक्ति है, जिसपर हमारी गुलामी का यह भवन—यह शासन टिका है । अपना सहयोग खीच लो, यह भवन निरवलम्ब तथा निराधार होकर ढह पडेगा ।

मनोवैज्ञानिक परिवर्तन

इस क्रियात्मक देन से भी अधिक मूल्यवान वह मनोवैज्ञानिक परि-वर्तन है, जो गाधीजी के आगमन और उनकी इस देन से राष्ट्र के मानस

मे हुआ। पहली बार राष्ट्र ने सुना कि शक्ति अपने से बाहर नही है और अपनी शक्ति का अनुसन्धानमार्ग अपनी ओर देखने में है। अभी तक लिबरल और हिंसक क्रान्तिकारी सब अपनी सफलता के लिए दूसरी ओर देखते थे। उनकी आशा और प्रतीक्षा विशेष परिस्थितियों के प्रति थी। गाधीजी ने देश को आत्म-विश्वास का मन्त्र दिया। उनकी बराबर यह स्थापना रही है कि दूसरो की सहायता से स्वतन्त्रता नही मिल सकती है। इतना ही नही, उनका यह भी कहना है कि इस प्रकार की बाहरी सहायता या दान से मिली हुई स्वतन्त्रता लेने योग्य नही है, क्योंकि जो स्वतन्त्रता अपनी शक्ति से प्राप्त न होगी उसकी रक्षा भी नही हो सकेगी। इस प्रकार देश को आत्म-परिचय का जो स्वाद मिला, उससे हमारी मानसिक शिथिलता दूर हो गई और हमारी सुप्त आत्मा उठकर चौकन्नी हो गयी।

आत्म-परिचय के इस उल्लास ने स्वभावत सार्वजनिक जीवन की नैतिक मर्यादा को ऊँचा कर दिया। १९२१ के वे दिन हमें याद है, जब चोरो और डाकुओ की वृत्ति मे भी गाधीवाद के क्रियात्मक स्पर्श से एक साधुता आ गयी थी। गाँधी टोपी की साख बाजार मे बेहद बढी हुई थी। उसे पहननेवालो की ओर पीडित जनता त्राता की भाति देखती थी। लोगो ने अपने आप व्यसनो का त्याग करना शुरू कर दिया था। पहली बार सार्वजनिक जीवन—विशेषत राजनीतिक क्षेत्र—में सचाई, सरलता, साधुता और सदाचरण को अनिवार्य महत्त्व प्राप्त हुआ। अनेक शराबियो ने शराब का त्याग कर दिया, अनेक आदमियो ने अपना सर्वस्व गवाने का खतरा उठाकर भी अपने विरोधियो पर से मुकद्दमे उठा लिये, पहली बार राष्ट्र ने उस सच्चे आत्मोल्लास का अनुभव किया, जो सकुचितता से ऊपर उठने पर होता है। अनेक वेश्याओ ने वेश्यावृत्ति

त्याग दी। हज़ारो आदमियो ने अपने को ऊपर उठाने वाला अथवा शोधित करने वाला एक न एक व्रत लिया।

इन वातो को चाहे जिस दृष्टिकोण से देखा जाय, इतना मानना पडेगा कि यह एक नवीन शक्ति का, जो राष्ट्र में आरही थी, प्रतीक थी।

१९२० ई० से १९३८ ई० तक, अठारह वर्ष हो गये है। गाधी-युग अभी चल ही रहा है। वीच-वीच मे लोग कहते रहे है कि गाधी खत्म हो गया, पर यह खीझ की वाणी थी। गाधी खत्म होकर भी खत्म नही होता—और ठीक उस समय, जव कुछ लोग उसके युग की समाप्ति की घोपणा कर रहे होते है, वह जी उठता है, उन्हे छेड देता है और सबपर छा जाता है।

इस गाधी-युग मे हमने तीन क्रियात्मक लडाइयाँ लडी है। १९२१ का असहयोग आन्दोलन 'टेकनीक' और आइडियालोजी' मे विलकुल नया था, इसलिए उसके सगठन मे अनेक कमिया रह गयी थी। ९-१० वर्ष की तैयारी के वाद १९३० का सत्याग्रह आया। इसने सचमुच व्रिटिश साम्राज्य को कपा दिया। कम-से-कम यह तो प्रकट हो ही गया कि गाधी जिस सत्याग्रह की दीक्षा देता है, उसमे असीम सम्भावनाएँ है। १९३२ का आन्दोलन तो १९३० के आन्दोलन का ही एक उपसहार था। इस-लिए उसका जिक्र हम अलग से नही कर रहे है। इन आन्दोलनो ने यह स्पष्ट कर दिया कि सत्याग्रह निष्क्रिय प्रतिरोध नही है और युद्ध के रूप मे इसका भली भाति प्रयोग किया जा सकता है। यह भी कि इसमे अमित शक्ति है और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे सफलतापूर्वक इसे वर्ता जा सकता है।

'सर्वोदय' जीवन का तत्त्वज्ञान है

यहाँ हम सत्याग्रह के तात्त्विक स्वरूप की चर्चा छोड देते है, पर

उसके व्यावहारिक एवं क्रियात्मक रूप की संक्षिप्त आलोचना आवश्यक है। क्योंकि बिना उसके गांधी-युग और उसकी देन का महत्त्व समझा नहीं जा सकता। पहले कहा जा चुका है कि गांधीजीने अपने आगमन के साथ ही हमें क्रियात्मक युद्ध का एक अस्त्र एवं साधन प्रदान किया। अपने सतत परीक्षण एवं शोधन से इसे उन्होंने एक विज्ञान का रूप दे दिया है। यह विज्ञान जीवन के प्रत्येक स्तर को छूता है—यह समस्त जीवन का विज्ञान है। यह जीवन के सामूहिक उदय एवं विकास का विज्ञान है। इसे गांधीजी ने 'सर्वोदय' जैसा सुन्दर नाम प्रदान किया। इस नाम में ही आध्यात्मिकता का स्पर्श है और इससे स्पष्ट है कि यह जीवन के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक इत्यादि नाना प्रकार के टुकड़े नहीं करता, वरन् प्रत्येक को, या सबको, साथ लेकर, सबके विकास को परस्पर अखण्ड, या कम-से-कम पूरक, मानकर चलता है। 'सर्वोदय' लक्ष्य है। 'सब सुखी हों, सब निरामय हों, सब श्रेय को देखें'—यह प्राचीन ऋषि-वाणी ही सर्वोदय है। इस 'सर्वोदय' में स्वराज्य सम्मिलित है। राज-नीतिक स्वतन्त्रता इस सर्वोदय का एक अंग है, क्योंकि सामूहिक उत्थान में—सर्वोदय में यह विवशतापूर्ण अवस्था, यह गुलामी और आत्म-विस्मृति बाधक है। सत्याग्रह इस लक्ष्य की साधना है। गांधीजी के आलोचक सबसे बड़ी भूल यही करते हैं। वे प्रायः भूल जाते हैं कि राजनीतिक स्वतन्त्रता उनका कोई लक्ष्य नहीं—जैसे यह साम्यवादियों का लक्ष्य नहीं है। गांधीजी की सर्वांगीण विकास की योजना का राजनीतिक स्वतन्त्रता एक अंग है। एक महत्त्वपूर्ण अंग। राजनीतिक गुलामी उनकी सर्वोदय की योजना में पहली बड़ी बाधा है। इसलिए वह उसे दूर कर लेना चाहते हैं, पर स्वतः, अपने में, इसका कोई महत्त्व नहीं। इसका महत्त्व इतना ही है कि यह वातावरण को परिष्कृत करने में सहायक होती है,

यह आगे के उत्थान की एक सीढ़ी है और सर्वोदय के लिए अनूकूल वातावरण उत्पन्न करती है। आध्यात्मिक दृष्टि से यह हमे विवशता एव आत्मविस्मृति के अन्धकार से बाहर निकालती है। सामाजिक दृष्टि से यह जन-समाज मे अधिक समत्व का सञ्चार करती है। आर्थिक दृष्टि से यह धन के ऊपर अधिक व्यापक नियन्त्रण—फलत इच्छा एव तैयारी होने पर अधिक न्यायपूर्ण धन-वितरण, की सुविधा प्रदान करती है। नैतिक दृष्टि से यह एक मानवसमूह को दूसरे मानवसमूह द्वारा शोषित एव पीडित होने से रोकती है। यह मनुष्य को उसके स्वाभाविक विकास के लिए अधिक अनुकूलता देती है। इससे गाधीजी ने अपने प्रयोग की दिशा इस ओर निर्धारित की।

राजनीतिक स्वतन्त्रता गाधीजी का एक आशिक कार्यक्रम है

गाधीजी के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता श्रेष्ठ एव पूर्णतर स्वतन्त्रता का एक अविभाज्य अग है। इसलिए वह इस स्वतन्त्रता के कार्यक्रम एव साधन ऐसे रखना चाहते है, जिनमे उस पूर्णतर स्वतन्त्रता के लक्ष्य का विरोध न हो, वरन् अनवरत हमारा ध्यान उसकी ओर रहे—उत्तरोत्तर हमारे जीवन मे, हमारे विचार मे, हमारे सस्कार एव आचार मे उसका उदय हो। इस बात को भुला देने के कारण ही वे लोग गाधीजी से खीझ उठते है, उनको प्रतिक्रियावादी कहते है, जो उनको केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता अथवा उस स्वतन्त्रता के लक्ष्य तक सीमित रखना चाहते है, जिसको उन्होने अपना ध्येय मान लिया है। यदि ऐसी भूल न करे, तो गाधीजी एव उनके कार्यक्रम की अनेक गलतफहमियो से वे बच जायेगे।

साध्य और साधन की एकता

जब गाधीजी का लक्ष्य सर्वोदय था, तब स्वभावत ऐसे साधन की खोज एव ग्रहण करना उनके लिए अनिवार्य था, जिससे साधन एव लक्ष्य की समानता या एक-जातीयता सिद्ध होती। ससार की समस्त राजनीतिक विचार-धाराये साधन एव साध्य की अनिवार्य एकता को अस्वीकार करके चलती रही है और आज भी चल रही है। यह स्थिति मनोवैज्ञानिक एव तात्त्विक दृष्टि से अशुद्ध है। वस्तुत साधन साध्य से भिन्न नही है। दोनो में एकरूपता के तत्त्व सन्निविष्ट है। साधन को हम अपरिणत साध्य अथवा साध्य को परिणत साधन कह सकते है। गाधीजी ने इसी तत्त्व को अपने जीवन के तत्त्वज्ञान मे, फलत राजनीति, में भी स्वीकार किया है। आश्चर्य तो यह है कि जिन लोगो के सिद्धान्त और जिनके जीवन मूलत ही असगतियो से पूर्ण है, वे प्राय गाधीजी मे, जिनका जीवन आदि से अन्त तक एक मूलाधार पर प्रतिष्ठित है, असगति देखते है। इसका कारण यही हो सकता है कि उन्होने गाधीजी एव उनके सिद्धान्तो को समझा नही है, और न समझने का ईमानदारी के साथ वे प्रयत्न ही करना चाहते है।

हिसा की निष्फलता

गाधीजी अहिसा पर जो इतना जोर देते है, उसका कारण यही है। जगत् की सभी सामाजिक विचार-धाराये, वस्तुत समाज मे अहिसा के लक्ष्य की स्थापना को लेकर ही चल रही है। मेरा तात्पर्य यह है कि वर्तमान जगत् एव समाज के मूल मे जो हिसा है, जो उत्पीडन और अनीति है, जो वैषम्य है, उसीको दूर करना सब प्रगतिशील विचारको का ध्येय है। अन्तर केवल साधनो में, विश्वास एव भावना—'स्पिरिट'—

मे है। अन्य विचार-धाराये बीच के परिवर्तन काल मे, हिंसा का सहारा लेना आवश्यक मानती है। उनका विश्वास है कि घोर हिंसा पर प्रतिष्ठत वर्तमान समाज मे आमूल परिवर्तन करने के लिए हिंसा एव जवर्दस्ती का आश्रय लिए बिना काम नही चल सकता। गाधीजी एव गाधीवाद इस बात को न केवल अस्वीकार करते है, वरन् जोरो के साथ इस विचार-प्रणाली पर आघात करते है। गाधीवाद की घोपणा यह है कि हिंसा से अहिसा की स्थापना हो नही सकती। क्योकि हिंसा से विचार या सस्कार का परिवर्तन नही होता, केवल उन विचारो अथवा सस्कारो पर थोडी देर के लिए प्रवलता का आरोप-मात्र होकर रह जाता है। इससे असगति, पडयन्त्र, विरोध की श्रृखला चलती है और पुन हिसा से प्रतिहिसा का जन्म होता है। उचित ओर न्याय्य के निर्णय का आधार विवेक, बुद्धि और विचार न होकर जवर्दस्ती और वाह्य वल-प्रदर्शन ही रह जाता है। जिसमे अधिक जवर्दस्ती करने की ताकत होती है, वह हावी हो जाता है। इससे जिस ध्येय तक हम पहुँचना चाहते है, उसीका विरोध होता है। इसलिए गाधीवाद कहता है कि हम नाम और रूप को वदलकर ही सन्तोष न करेगे। वही हिंसा जो आज समाज को त्रस्त कर रही है, कर्णसुखद नामो एव सुदर्शन रूप मे पुन प्रतिष्ठित न हो जाय, इसके सम्वन्ध मे गाधीवाद की जो अत्यन्त जागरूकता—सजगता है, उसी के कारण गाधीजी को राजनीति के क्षेत्र मे वार-वार अहिसा की छानवीन करनी पडती है और पुन-पुन उसके प्रति हमारा ध्यान आकर्पित करना पडता है। नवीनता एव आकर्पण के प्रेमी लोग इससे खीझते है, गाधीजी को गालिया देते और प्रतिक्रियावादी कहते है।

गाधी-युग की प्रेरणाओ की कुञ्जी

तो मै कह यह रहा था कि गाधी-युग मे जिन साधनो के इस्तेमाल

पर जोर दिया जाता रहा है, उनका परीक्षण करने पर आप देख सकते हैं कि वे न केवल तात्त्विक दृष्टि से सही हैं, वरन् व्यावहारिक दृष्टि से भी अधिक उपयोगी एवं फलप्रद हैं। गांधीजी के अनुयायी जिन बातों पर जोर देते हैं, उनमें एक 'अभय' है। यह 'अभय' ही वस्तुतः अहिंसा है। यह गांधी-युग की समस्त प्रेरणाओं की कुञ्जी है। हिंसा के मूल में सदैव भय होता है। गांधीजी ने आज तक भारत के सार्वजनिक क्षेत्र में जितने कार्यक्रम रखे हैं और जितने भी प्रयोग किये हैं, सबके मूल में अभय की वृद्धि की भावना रही है। भय ही उच्छृंखल शासन का आधार है। हमारी गुलामी की इसीपर प्रतिष्ठा है। सेना, पुलिस, कानून सब इसी भय को बनाये रखने के लिए हैं। मर्यादा—प्रेस्टीज—, कानून, शान्ति, अमन, चैन सब इसी भय के अनेक नाम हैं। जबतक जन-समाज में भय है, तबतक स्वतन्त्रता सम्भव नहीं। हमारे बीच इस भय की मात्रा जितनी कम होती जायगी या अभय की मात्रा जितनी बढ़ती जायगी, उतनी ही मात्रा में हम स्वतन्त्र होते जायेंगे। वस्तुत यह अभय ही मानव का सर्वश्रेष्ठ अधिकार—'प्रिविलेज' है। इसकी रक्षा एव वृद्धि कर लेने पर न केवल आज अपनी राजनीतिक गुलामी के धब्बे को हम धो सकते है, वरन् भविष्य मे भी किसी प्रकार की स्वदेशी सरकारी उच्छृंखलताओ से अपनी रक्षा कर सकते है। १९२० से आज तक लडाई मे, शान्ति मे अपने प्रत्येक कार्यक्रम के द्वारा गाधीजी ने जनता में स्वतन्त्रता की इसी आवश्यक शर्त 'अभय' को बढाने की चेष्टा की है। अहिसा इसी अभय का दूसरो के प्रति व्यवहार है। जो कानून अन्त करण को विवश, मूर्छित एव शिथिल करते है, जो हमारे पौरुष के स्रोत को बन्द करते है, उन्हे न मानो और न मानते हुए उन्हें बदलने के लिए सब प्रकार के कष्ट सहो। १९२० में रौलट ऐक्ट के विरुद्ध जब उन्होंने

सत्याग्रह की घोषणा की, तव उन्होने जनता को यही मन्त्र दिया। आत्म-विश्वास इसी अभय का विधायक मानवी या नैतिक पहलू है और असहयोग एव सत्याग्रह इसी के सामूहिक सार्वजनिक प्रयोग है।'

ऐसा भी नही कि यह अभय एक आदर्श-मात्र रह गया हो। इसने सार्वजनिक जीवन को स्थायी रूप से प्रभावित किया है। यह इसीका परिणाम है कि लोग कॉंग्रेस मे रहते हुए भी उसकी नीति का सञ्चालन करनेवाले गाधीजी की तीव्र-से-तीव्र आलोचनाये कर सकते है और करते है। यह इसीका नतीजा है कि एक कैम्प मे काम करते हुए भी हम सेनापतियो के निर्णय की मनमानी टीका कर सकते है और करते है। इसने विरोध को अधिक आजादी दी है। इसने लोगो को परिणाम की चिन्ता किये विना अपना मत ठीक-ठीक प्रकट करने को उत्तेजित किया है। यह ठीक है कि अप्रत्यक्ष दवाव के उदाहरण अव भी मिलते है, परन्तु इसका कारण यही है कि पूरी तरह हमने इस प्रवृत्ति एव तत्त्व को अभी तक हृदयगम नही किया है।

सच्ची सेवा की प्यास

गाधी-युग की दूसरी व्यावहारिक देन यह है कि इसने सेवा की सामूहिक भावना को वढाया है। इसने देश के लिए हजारो ऐसे सेवक पैदा कर दिये है, जो अपना सारा समय केवल सार्वजनिक सेवा के कार्यो मे ही लगाते है। यह इसी का परिणाम है कि आज राष्ट्र के पास अवैतनिक सेवको की एक वहुत वडी अनियमित सेना है। काम पडते ही हजारो—लाखो तैयार हो जाते है। कॉंग्रेस द्वारा निश्चित प्रत्येक कार्यक्रम, उसके सन्देश गॉंव-गॉंव पहुँच जाते है। फिर सेवा के विषय मे केवल सख्यागत (quantitative) ही वृद्धि नही हुई है, वरन् मर्यादा और गुण

में भी पर्याप्त विकास होगया है। सार्वजनिक सेवा के जीवन में नीति और त्याग की इतनी ऊँची माँग गाधीजी एव गाधी-युग की देन है। छोटे से छोटे जन-सेवक मे भी साथी और जनता की यह आशा होती है कि वह अपना जीवन सादा, कष्टपूर्ण, अधिक से अधिक समर्पित बनायेगा। यह बात इतनी बढ गई है कि किसी जन-सेवक या नेता का सेकेण्ड क्लास मे चलना, मोटरो मे निकलना, अच्छे कपडे पहनना इत्यादि भी कडी टीका एव व्यग के विषय बन गये हैं। कई बार इस दृष्टिकोण के कारण व्यक्तियो के साथ अन्याय भी हो जाता है, पर इसका कारण यही है कि सेवा मे त्याग और गरीब जनता की जीवन-प्रणाली से सान्निध्य रखने की माँग हममे बहुत अधिक बढ गई है। बिना त्याग के सेवा सन्देह की दृष्टि से देखी जाती है। त्याग का अर्थ अधिक से अधिक व्यक्तिगत या सामाजिक सुविधाओ का स्वेच्छापूर्वक त्याग करने से है। इसके कारण सेवको और सेव्य जनता मे एक प्रकार की एकजातीय भावना पैदा होती है। दरिद्र ग्रामीण के पास मि० 'क' जब सूट-बूट पहने, कीमती कपडो की पोशाक मे, जाते है, तब उनमे उसकी सेवा-भावना एव सदाशयतापर सन्देह पैदा होता है। वह कुछ खिचता है, कुछ सकुचित होता है। वह अनुभव करता है कि यह किसी दूसरे स्तर के लोग है—यह हममे से नही है।

कहा यह जायगा कि आज हममे हजारो पाखण्डी, धोखेबाज है। पर आज जो इतनी ज्यादा शिकायते हम सुनते है, यदि उनके मूल मे जायँ तो मालूम होगा कि उनका कारण भी लोगो की त्याग की माँग का बढ जाना है। आर्थिक सुविधाओ पर किसी ने ध्यान दिया कि वह व्यग और निन्दा का शिकार हुआ। इसी तरह की हजार बाते है। इन शिकायतो का कारण यह नही है कि सार्वजनिक जीवन मे पाखण्डियो की, पतित एव

अवांछनीय लोगो की सख्या पहले की अपेक्षा अनुपात या परिमाण मे बढ गई है। असली कारण यह है कि पहले जहाँ हम ऐसे लोगो को दर-गुजर करते थे—इनपर ध्यान न देते थे, तहाँ अब सेवा की कसौटी अधिक त्यागपूर्ण, समर्पित और ऊँची हो जाने के कारण ये हमारी आँखो मे चुभते है। मतलब यह है कि गाधी-युग ने व्यावहारिक दृष्टि मे एक बहुत बडा काम जो किया है, यह है कि उसने राष्ट्र को हजारो—लाखो सेवक प्रदान किये है जिनके बिना कोई सामूहिक चैतन्य जाग्रत नही किया जा सकता। और उसने उन दलो का अस्तित्व और विकास सम्भव कर दिया है, जो अपने को 'प्रगतिवादी' कहते है और गाधी जी एव उनके कार्यो को पश्चाद्गामी कहकर उल्लास का अनुभव करते है।

व्यापक चैतन्य की उद्भावना

गाधी-युग की तीसरी बडी व्यावहारिक देन यह है कि इसने जनता के प्रत्येक अग मे चैतन्य फूँक दिया है। सामाजिक, धार्मिक, जातिगत प्रत्येक क्षेत्र मे सजगता का आज एक स्वर है। इसने ऐसा नही किया कि केवल राजनीति को लिया हो और अन्य क्षेत्रो की उपेक्षा की हो। इसने राजनीति को तो प्राणोदित किया ही, पर अन्य क्षेत्रो को भी चेतना एव परिष्कार के जागरण से भर दिया है। चेतना का स्वर समस्त जीवन पर छा गया है। यह विभक्त अथवा एकागी नही है, सर्वागीण एव विस्तृत है। राजनीति को शक्ति एव स्फूर्ति दी, स्वतन्त्रता की रणभेरी बजाई, तो इसने सदियो से उपेक्षित, पददलित अछूतो को भी आश्वासन दिया। इसने सामाजिक कुरीतियो—अपव्यय, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, अनमेल विवाह या जबर्दस्ती विवाह, परदा, स्त्रियो की उपेक्षा आदि—पर जबर्दस्त प्रहार किया। इसने लोगो मे कर्तव्य और जिम्मेदारी की भावना जाग्रत

की। इसने श्रम के प्रति गौरव का भाव लोगो मे वढाया। इसने नागरिक जिम्मेदारी के भाव (civic sense) को उत्तेजन दिया। और सबमे वडा काम जो इसने जादू की भाति किया है, इस अवधि मे स्त्रियो का अभूतपूर्व जागरण है। हजारो स्त्रियो ने परदा छोड दिया और अपने पतियो, वन्धुओ के साथ एक व्यापक विरादरी का भाव लिए सेवा के क्षेत्र मे आई। सदियो के वाद उनके वातायन सडको एव उन्मुक्त तथा विस्तृत मैदानो की ओर खुल गये। स्वच्छ, ताजी, प्राणप्रद हवा के झोके आये। आज स्त्रियाँ कौसिलो मे है, जिला वोर्डो मे है, कॉग्रेस मे है तथा सैकडो सभाओ एव सस्थाओ मे लघुता की भावना से मुक्त होकर काम कर रही है। इस प्रकार, इतनी कम अवधि मे, स्त्रियो की यह प्रगति आश्चर्यजनक है। फ्रास तक मे जव स्त्रियो के लिए व्यवस्थापक सभा के द्वार वन्द रहे है और इगलैण्ड मे उनके इस अधिकार की स्वीकृति हाल की घटना है, तव भारत मे स्त्रियो के इन अधिकारो का पुरुषो द्वारा विलकुल विरोध न होना उस प्रवल शक्ति का द्योतक है, जो गाधीयुग ने सार्वजनिक जीवन को दी है। आज देश मे सैकडो सस्थाये गाधी जी के आदर्श एव भावना से अनुप्राणित हो विधायक तथा ठोस कामो मे लगी हुई है।

अन्त.मुखी प्रवृत्ति

गाधी-युग की मुख्य प्रवृत्ति सदा यह रही है कि हम अपने को योग्य वनाये। अपनी शक्ति एव आत्म-विश्वास को लेकर खडे हो। शत्रु की स्थिति से फायदा उठा लेने की अपेक्षा अपनी सुदृढता की ओर ही इसका ध्यान अधिक रहा है। विना तैयारी के गाधी जी किसी कार्यक्रम का समर्थन नही करते। उनके प्रति गलतफहमी पैदा ही इसलिए होती है

कि उनकी एव उनके युग की इस प्रवृत्ति को हम ठीक समझते नही है। हम देखते है कि कल वह कौसिलो मे जाने के पवल क्रियात्मक विरोधी थे और आज काँग्रेस के कौसिल-कार्यक्रम के न केवल समर्थक वरन् वस्तुत सचालक है। वस, हम उन्हे प्रगति-विरोधी, विधानप्रिय इत्यादि नामो से पुकारने लगते है। वात केवल इतनी ही होती है कि गाधी जी लोगो की तैयारी देखकर ही युद्ध की सलाह दे सक्ते है। जव उन्होने देखा कि काग्रेस-कर्मियो मे से अधिकाश मे यह भाव है कि काग्रेम को कौसिल मे जाना और शासन चलाना चाहिए, तो सत्याग्रह अथवा अन्य किसी कार्य-क्रम को सामने रखना हास्यास्पद होता। इसलिए उन्होने इस द्वितीय वात को ही इस अवसर पर मान लिया। जिन लोगो को अन्दर की वाते मालूम है वे जानते है कि उन्होने पदग्रहण के प्रश्न पर कितना कडा रुख अपने साथियो के सामने ग्रहण किया था। इसके वाद भी वीच-वीच मे उन्होने सदा ऐसा रुख ग्रहण किया है कि उनके साथियो को भी आश्चर्य हुआ है। इन वातो के प्रकट करने का समय अभी नही आया है। जव ये वाते प्रकट होगी, तव यह स्पष्ट हो जायगा कि कौसिलो मे जाने एव पद-ग्रहण करने के प्रति वह कभी उत्सुक न थे। यह तो केवल परिस्थिति की वास्तविकता की स्वीकृतिमात्र है। गाधीजी की विशेषता यही है। वह प्रत्येक स्थिति से कुछ न कुछ उपयोगी तत्त्व निकाल लेने की चेष्टा करते है। उन्होने इस अवसर पर काग्रेस को विभाजित होने से वचा लिया और कोन्सिल-कार्यक्रम से जो कुछ प्राप्त हो सकता था, प्राप्त कर लेने की चेष्टा की। उपयुक्त अवसर उपस्थित होते ही वह काग्रेसी सरकारो को हट जाने की सलाह देगे। जो लोग गाधीजी को प्रगति-विरोधी कह रहे थे या है, उनको यह देखकर आश्चर्य होना चाहिए कि पद-ग्रहण को परले सिरे की मूर्खता वतानेवाले कई नेता आज मिनिस्टर

है, जब गाधीजी के निकट के प्रथम श्रेणी के अनुयायियो ने कही कोई पद ग्रहण नही किया है। राजाजी अपवाद है। उन्होने भी अपनी इच्छा के विरुद्ध, मद्रास के प्रादेशिक झगडो से काग्रेस को बचाने के लिए, प्रधान मन्त्रित्व स्वीकार किया और यदि उन्हे इस कार्य से मुक्ति मिल जाय, तो वह कही अधिक प्रसन्न होगे। गाधीजी सदैव राष्ट्रीय शक्तियो का सगठन और सयोजन करते हुए आगे बढते है। वह स्वाभाविक प्रतिक्रियाओ मे भी लाभ उठाने के पक्षपाती है।

फिर जो लोग अपने को उग्रवादी कहते है और 'क्रान्ति' शब्द का पारायण किया करते है उनके आचरण और गाधी जी या उनके अनुयायियो के आचरण को मिलाने मे यह स्पष्ट हो जाता है कि कौन कहाँ है? आज स्वतन्त्रता का जो भी रचनात्मक या युद्धात्मक काम हो रहा है, अधिकाश गाधीवादी कार्यकर्ताओ एव नेताओ द्वारा हो रहा है। खादी, हरिजन-सेवा, ग्रामोद्योगो का पुनरुद्धार, शिक्षण-सम्बन्धी क्रान्ति सबके प्रेरक गाधी जी या उनके पथ-प्रदर्शन मे काम करनेवाले लोग है। इसके अलावा आज देशी राज्यो में स्वतन्त्रता का जो रणनाद सुनाई दे रहा है वह भी गाधीवादियो तक ही मुख्यत सीमित है। और जो लोग काग्रेस की निरपेक्षता की नीति पर गाधी जी एव उनके अनुयायिओ को गालियाँ देते थे वे सामूहिक रूप से अब भी तमाशा देख रहे है।

भारतीय सस्कृति का पुनरुद्धार

गाधी-युग की एक और विशेषता यह है कि उसने भारतीय सस्कृति के पुनर्जीवन का सन्देश दिया। सदियो के बाद पहली बार हमने सुना कि मनुष्य केवल रोटी खाकर नही जी सकता है। भारत की मूर्च्छित आत्मा को एक दिन जो अमृत-वाणी स्वामी विवेकानन्द ने सुनायी, उसे ही

गाधीजी ने अपने कार्य की भाषा में प्रकट किया है। गाधी-युग ने मरती श्रद्धा को फिर से जिलाया। इसने धर्म में, मानव की तात्त्विक श्रेष्ठता मे, ईश्वर या सत्य में हमारी आस्था उत्पन्न की और कहा कि किसी कीमत पर आत्मा बेची नही जा सकती। दैनिक जीवन मे, फलत राज-नीतिक युद्ध मे, उसने आध्यात्मिकता का स्वर हमे प्रदान किया। इस प्रकार गाधी-युग वस्तुत भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार एव परिष्कार का युग है। गाधीवाद मूलत एक सांस्कृतिक प्रवृत्ति है। इसने पश्चिम के ससर्ग मे उत्पन्न होनेवाले अश्रद्धा, फलत आत्मविस्मृति, के प्रबल प्रवाह को रोक दिया। व्यक्तिगत और सार्वजनिक दो विभागो मे मनुष्य के आचरण के विभाजन के सिद्धान्त को इसने चूर-चूर कर दिया है और दोनो की अविभाज्यता की स्थापना बडे जोरो के साथ की है।

११

आधुनिक भारतीय इतिहास में

गांधी-युग—२

[सिंहावलोकन]

सर्वग्राही परिवर्तन

यह कहना कुछ अधिक न होगा कि इन उन्नीस वर्षों में गांधी जी ने सार्वजनिक जीवन का चेहरा ही बदल दिया है। इस युग ने अपनी छाप प्रत्येक पर डाल दी है। इसने हमें एक नैतिक रीढ़ प्रदान की और हमारी झुकी कमर और सब के आगे विवशतापूर्वक झुक जानेवाले सिर को ऊपर उठाया। इसने हममें आत्म-विश्वास को जगाया। इसने हमें अपने पैरों पर खड़ा होना सिखाया। इसने राष्ट्र में यह अनुभूति पैदा की कि हम निरस्त्र है, पर क्षुद्र नहीं है। हम शासित है, पर भाग्य के भरोसे अब न रहेंगे। हम पराधीन है, पर उस पराधीनता की साकलो को चूर-चूर किये बिना दम न लेंगे। स्वतंत्रता-प्राप्ति का दृढ निश्चय कर लेने के बाद इसने उसके लिए राष्ट्र को मार्ग बताया और अहिंसात्मक सत्याग्रह का अस्त्र प्रदान किया। इस अस्त्र की असीम सम्भावनाओं का प्रयोग भी उसने दो-तीन बार व्यापक रूप से करके दिखाया। उसने हमें आत्मार्पण-कारिणी सेवा की मर्यादा बतायी और राष्ट्र को हजारो-लाखो सेवक प्रदान किये। उसने सार्वजनिक जीवन के कलुष और कल्मष के ऊपर नीति और साधुता का गौरव स्थापित किया। उसने राजनैतिक क्षेत्र में ही गहरे परिवर्तन नहीं किये, वरन जीवन की एक व्यापक धारणा के कारण सामाजिक, औद्योगिक, आर्थिक सभी क्षेत्रो में क्रान्ति की। उसने स्त्रियों को जगाया, सामाजिक कुरीतियों के विनाश की गति को तेज कर दिया, उसने अछूतो एव उत्पीडितो को आश्वासन दिया। उसने किसानों की ओर निजत्व के भाव से देखा। उसने खादी, चमड़े, हाथ के कागज इत्यादि गृह-उद्योगो का उद्धार किया तथा अनेक देशी कलाओं

को, जो नष्ट होती जा रही थी, पुनर्जीवित किया। जीवन की मर्यादा मे अर्थ के प्रयोजन मे भी उसने नवीन क्रान्तिकारी धारणायें पैदा की और हमे दृढतापूर्वक यह सन्देश दिया कि मनुष्य महज रोटी खाकर रहनेवाला जीव नही है, उससे कही ऊँचा और श्रेष्ठ है।

नवीन प्रतीको की स्थापना

ऐसे लोग है, जो इन बातो को उतना महत्त्व नही देते जितना उन्हे देना चाहिए। पर यह उन मौलिक परिवर्तनो की प्रकृति से अनभिज्ञता के कारण है, जो गाधीजी, गाधीवाद और गाधी-युग ने हमारे सामाजिक विधान मे किये है या करने की चेष्टा कर रहे है। वस्तुत गाधी-युग की देन का महत्त्व तब तक ठीक-ठीक समझा नही जा सकता, जब तक हम उन नवीन प्रतीको (symbols) की ओर ध्यान न दे, जो गाधी जी पुराने प्रतीको के स्थान पर प्रतिष्ठित करने को सचेष्ट है। समाज या जनता की मनोवृत्ति का सचालन सदैव प्रतीको से होता रहा है। प्रारभिक युग में, जब मनुष्य जगलो मे रहता था, शारीरिक शौर्य एव पराक्रम ही समाज की सर्वोत्तम मर्यादा का प्रतीक था। जिसके पास यह था, उसके पास सब कुछ था। इस शारीरिक पराक्रम एव दुस्साहस से ही मनुष्य की माप होती थी। उस समय का लघु समाज इसी प्रतीक द्वारा शासित एव परिचालित होता था। समय के साथ यद्यपि समाज का सगठन बदलता गया, उसमे जटिलताएँ आती गई, पर बहुत दिनो तक समाज-सत्ता का प्रतीक यही रहा। उसके युगो बाद बाद पराक्रम का स्थान विद्या और तपस्या ने ले लिया। जगत् के कल्याण के लिए जो महात्मा गण सर्वस्व-त्यागी होकर पवित्र भाव से आत्म-साधना करते थे, उनका महत्त्व समाज मे सर्वोपरि हुआ। विद्या और ज्ञान की मर्यादा बढ गयी। वही युग का

प्रधान प्रतीक हुआ। इन ऋषियो के पास अस्त्र-शस्त्र न थे, शारीरिक पराक्रम भी न था। वे निस्पृह, अहिंसक थे। फिर भी उनको श्रेष्ठता प्राप्त हुई। वडे-वडे चक्रवर्ती नरेश एक दुवले-पतले ऋषि या तपस्वी के सामने घुटने टेकते थे। कालान्तर मे इसी प्रतीक के दुरुपयोग तथा शुद्ध ज्ञान मे शिथिलिता एव ह्रास आजाने के कारण पुरोहित वर्ग प्रधान हो गया तथा समाज मे उसी की तूती वोलने लगी। वाह्याचार एव मिथ्या-चरण ने शुद्ध धर्माचरण का स्थान ले लिया। पुरोहित वर्ग की सत्ता सर्वोपरि होगई। पर नियमानुसार यह युग भी समाप्त हो गया। वह जमाना आया, जिसे भारतीय इतिहास मे मध्य युग कहा गया है। इसमे पुन शारीरिक पराक्रम के प्रतीक का मूल्य वढ गया। इस युग के नायक वे है, जिनमे लाखो के उत्पीडन एव कत्ल कर देने की शक्ति थी। विदे-शियो के निरन्तर आक्रमण एव ससर्ग से शारीरिक पराक्रम एव दुस्साह-सिकता मे विकृतिया भी पैदा हुई। धोखाधडी, प्रवञ्चना, कूटनीति का अश वढता गया। यहाँ तक कि अन्त मे पराक्रम की जगह यह कूटनीति ही प्रधान होगई, जिसके अत्यन्त कुत्सित उदाहरण हम ब्रिटिश शासन के इतिहास मे पाते है। पश्चिम के ससर्ग, व्यापार-उद्योग के अन्तर्रा-ष्ट्रीयकरण, आमदरफ्त की तीव्रता द्रुत साधनो के वाहुल्य एव सबके ऊपर इन वस्तुओ के धन-साध्य होने के कारण आज जैसे विश्व मे अन्यत्र, वैसे यहाँ भी धन-सत्ता प्रवल हो उठी है। आज धन ही सामाजिक मर्यादा का प्रतीक है। धन से पराक्रम खरीदा जा सकता है, यश प्राप्त किया जा सकता है, समाज पर प्रभुत्व ओर नियन्त्रण स्थापित किया जासकता है। धन का मूल्य आज ज्ञान-विज्ञान, नीति, धर्म, पराक्रम ओर कुल-शील सबसे अधिक होगया है। आज समाज जीवन के अन्त मुख सद्‌गुणो के स्थान पर वाह्य सत्ता और ऐश्वर्य से शासित है। गाधीजी या गाधी-युग

ने इसी धन सत्ता पर अन्त सत्ता के प्रतीक को स्थापित करने की सतत चेष्टा की है। उसने धनिक के ऊपर सेवक को महत्त्व दिया है। कीमती आभूषणो एव वस्त्रो पर मोटी एव खुरदुरी खादी को विशेषता प्रदान की है। वणिक धर्म पर ब्राह्मण धर्म को श्रेष्ठ ठहराया है। त्याग को परिग्रह पर महत्त्व प्रदान किया है। उपाधि, धन, कीमती वस्त्राभूषण, शारीरिक पराक्रम, प्रभुता इत्यादि जिन कारणो एव साधनो से किसी व्यक्ति की समाज मे प्रतिष्ठा होती थी, उन सबको आज इसने अनावश्यक बना दिया है अथवा इसमे प्रयत्नशील है। इसने गरीब-अमीर सबको एक तलपर, एक कसौटी पर खडा किया है। जिन प्रतीको एव साधनो से शक्तिमान वर्ग ने समाज पर अपना नियन्त्रण स्थापित किया था या कर रखा है, उनको इसने जोरो के साथ 'चैलेज' किया है। सबसे क्रान्तिकारी परिवर्तन तो यह है कि यह किसी भी कार्य मे हिंसा का सहारा लेने से इनकार करता है और इस प्रकार समाज के परिष्कार एव नियन्त्रण मे एक सम्पूर्णत क्रान्तिकारी या सर्वथा नवीन साधन का उपयोग करने का दावा करता है।

गाधी, गाधीवाद या गाधी-युग की सफलता का सबसे बडा प्रमाण तो यही है कि आज उसके विरोधी एव मतभेद रखनेवाले लोग, सस्थाये या दल भी अपने कार्यक्रम की सिद्धि के लिए उसके अथवा उसके द्वारा प्रवर्तित साधनो का उपयोग कर रहे है। वह उपयोग वा प्रयोग गलत हो या सही, यह दूसरी बात है। पर परिस्थिति-वश उनको उनका उपयोग करने के लिए विवश होना पड रहा है। कोई दूसरा मार्ग उन्हे दिखाई नही देता, कोई दूसरे उपाय आविष्कृत करने मे उनकी बुद्धि असमर्थ है। मजदूरो के जो नेता अपने को प्रगतिवादी या साम्यवादी कहकर गाधी को खूसट एव गाधीवाद को बुद्धि का विपर्यास कहकर प्रसन्न होते है वे भी

गाधीजी द्वारा वतायी पिकेटिंग का सहारा लेने की चेष्टा करते है। धरना, हडताल, असहयोग आज राजनीति के क्षेत्र मे युद्ध के सामान्य साधन हो रहे है। गाधी या गाधीवाद ने जिन व्यावहारिक साधनो का प्रवलता एव शक्ति के साथ प्रयोग किया था, वे आज आत्म-प्रकाश या अभिव्यक्ति की प्रत्येक योजना मे अनिवार्य महत्त्व प्राप्त कर रहे है और उनके विना कोई गति नही है।

राजनीतिक क्षेत्र मे, जैसे कि प्रत्येक क्षेत्र मे, गाधीजी का वह युद्ध वरावर जारी है, जो उहोने १९२० मे आरम्भ किया था अथवा यो भी कह सकते है कि जिसकी भूमिका दक्षिण अफ्रीका, खेडा और चम्पारन मे पडी थी। यह युद्ध कभी वन्द नही हुआ है, केवल उसकी अवस्थाओ (Phases) मे परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन होता गया है। एक शब्द मे यह अत्म-प्रकाश का युद्ध है। यह अन्त करण की आवाज को दवानेवाले आवरणो एव वन्धनो को विनाश करने का युद्ध है। यह उन सव अस्वास्थ्यकर वाधा-वन्धनो तथा कठिनाइयो को चूर्ण-विचूर्ण कर देने के लिए है, जिनके कारण, तुच्छ स्वार्थो से दवकर, मानव अपनी आत्मा की वाणी का विरोध करता है। गाधीजी ने अपने एक वक्तव्य मे जव यह कहा कि युद्ध तो आज भी जारी है, तव वहुतो को विस्मय हुआ। पर यह एक विलकुल सामान्य सत्य उन्होने कहा। जिन लोगो की दृष्टि स्थूल है, वे केवल १९३०–३२ के सत्याग्रह को ही युद्ध समझते है। यह सत्याग्रह वस्तुत युद्ध के सामान्य क्रम मे आया हुआ एक ज्वार-मात्र था। दैनिक क्रम से उसमे एक भिन्नता थी, इसलिए साधारण जनो ने समझा कि वह युद्ध है। ऐसे लोग विधायक कार्यक्रमो की ओर प्राय खीझ और उपेक्षा से देखते है। यह ठण्डा वातावरण उनके खून की गर्दिश और गरमी को कम कर देता है। यह युद्ध और आन्दोलन की कमी नही, उनकी अपनी

त्रुटि का द्योतक है। गरमी और जोश मे लडना सदा ही सरल रहा है। उसका हमे अभ्यास है। वही हम जानते रहे हैं। अब ठण्डे होकर, हृदय मे शान्ति तथा ओठो पर मुस्कराहट के साथ, लडना है। बाह्य उत्तेजनाओ को छोडकर, केवल अन्दर की लगन और विवेक की स्फूर्ति से, लडना है।

इस ठण्डी लडाई मे, जो इस समय चल रही है, जो अनेक विधायक कार्यक्रम रखे गये है, इनका अपना महत्त्व है। इन्ही की नीव पर राष्ट्र के भवन का निर्माण हो रहा है। मजबूत और सुदृढ मकान जल्दबाजी मे नही बना करते। आगे युद्ध मे ज्वार आनेवाला है, उसकी सफलता भी बहुत कुछ इन्ही कार्यक्रमो पर निर्भर है। ये कार्यक्रम कुछ नये भी नही है। अधिकाश गाधी-युग के आरम्भ से चले आ रहे है। इनमे एक खादी है। खादी को लेकर प्राय गाधीवाद पर उसके पश्चाद्गामी होने का दोषारोप कुछ लोग करते रहते है। उनका कहना है कि आधुनिक विज्ञान के युग मे यह असम्भव-सी चेष्टा है, एक हास्यास्पद प्रयत्न है। स्वतन्त्रता और आदर्श का प्रत्येक प्रयत्न आरम्भ मे इसी प्रकार हास्यास्पद दीखता है। पर इन सज्जनो से मै कहूँ कि न गाधीजी और न अन्य किसी गाधीवादीने कभी यह समझा है कि खादी मिलो को खत्म कर देगी या समस्त देश इसे अपना लेगा। उन्होने तो इसे एक प्रतीक के रूप मे लिया है। वस्तुत गाधी जी और गाधीवाद के जितने कार्यक्रम है, वे केवल उचित और न्यायपूर्ण मार्ग की ओर निर्देश मात्र करते है। वे भ्रमपूर्ण या सघर्ष, होड, तीव्र विद्वेष तथा प्रवचना से भरी हुई वर्तमान जीवन-विधि, वर्तमान विचार-प्रणाली तथा वर्तमान कार्य-प्रणाली के प्रति, जिसमे घोर स्वार्थ एव शारीरिकता का भाव प्रधान हो गया है, विद्रोह की घोषणा करते है। वे जाग्रत मानव और राष्ट्र को उद्बुद्ध आत्मा के प्रतीकरूप है। खादी का सास्कृतिक महत्त्व उसके आर्थिक पहलू से

कहीं अधिक है। पहली बात तो यह है कि उसने गरीब-अमीर को वेश और सज्जा मे बहुत कुछ एक कर दिया है। दूसरी बात यह कि यह कृत्रिम जीवन के विरुद्ध विद्रोह का भाव मन मे उत्पन्न करती है। तीसरे समाज-जीवन के मूल में आधुनिक मशीनो के कारण सघर्ष और होड की जो वृद्धि हो रही है, उसे बढने न देने के विरुद्ध यह एक प्रयास है। चौथी बात यह कि यह श्रम, उपज एव आय का अधिक उत्तम वितरण करती है। यह कोरी व्यावसायिकता पर टिकनेवाली चीज नहीं है, इसका एक सैद्धान्तिक आधार है। गाधी जी ने खादी की कीमत बढाकर भी कातनेवालो को निर्वाह-योग्य मजदूरी देने के सिद्धान्त पर सदा जोर दिया है। अन्य व्यवसायो की तरह उपज के खर्च में कमी करके, मजदूरो की मजदूरी घटाते हुए, बाजार में होड करने और ग्राहको को सस्ता से सस्ता देने की प्रवृत्ति इसमें नहीं है। अवश्य ग्राहको को यथासम्भव सस्ता देने का प्रयत्न इसमे भी है, पर वह इसका मुख्य तात्पर्य नहीं है। मुख्य बात लाखो मजदूरो को जीवन मे आश्वासन और आश्रय प्रदान करना है। मिलो की भाति यहाँ खादी-उत्पादक (चर्खा-सघ) मजदूरो के हित के विरुद्ध नहीं खडा होता, वरन् खादी के ग्राहको के सामने मजदूरो के पक्ष में खडा होता है। यहाँ उत्पादक एव उत्पादनकार्य मे लगे श्रमिक के हित मे विरोध का भाव नहीं है।

इसका व्यावहारिक उपयोग एव मूल्य भी कुछ कम नहीं है। आज यह राष्ट्रीयता एव सार्वजनिक सेवा का एक चिन्ह है। यह अगणित सेवको की वर्दी का काम देती है। इसके बिना सेवक की पहचान का कोई चिन्ह नहीं रह जाता। फिर देश के लाखो दरिद्र कुटुम्बो को इसने आर्थिक सहारा दिया है। फालतू समय मे इसने उन्हे एक ऐसा धन्धा दिया है, जिसको चलाने मे कुछ विशेष खर्च नही और जो प्राय सर्वत्र प्राप्त है।

पर यह उन थोड़े पैसों की ही बात नहीं है। जहाँ-जहाँ प्रयोग हुए हैं, वहाँ-वहाँ देखा गया है कि इसने लोगों के दैनिक जीवन का नक्शा ही बदल दिया है। आलस्य-शिथिल जीवन में इसने स्फूर्ति भर दी है। इसने आत्म-विश्वास को जाग्रत किया है। केन्द्रों तथा समीपवर्ती गांवों में भाई-चारे के भाव की वृद्धि की है। अनेक कुटुम्बों पर से कर्ज के स्थायी बोझ का लोप हो गया है। अनेक कुरीतियों (जैसे नशा इत्यादि) का लोगों ने स्वतः त्याग किया है। इसने स्वावलम्बन की प्रवृत्ति को बढ़ाया है। मतलब यह कि मिलों एवं कारखानों के श्रमिकों में, कृत्रिम वातावरण एवं अनेक प्रलोभनों के कारण, जहाँ प्राय नैतिक शिथिलता और आचरण की जटिलतायें पैदा होती है, वहाँ खादी के कार्यक्रम में लगे हुए श्रमिकों का जीवन स्वच्छतर, सरलतर होता जा रहा है।

इसी प्रकार अस्पृश्यता-निवारण का प्रश्न साधारण दृष्टि से देखने पर सुधारकों और हिन्दुओं का एक प्रश्न दीखता है। पर यदि इसकी आत्मा में प्रवेश करें, तो यह भी एक विशेष शक्ति एवं प्रवृत्ति का प्रतीक है। यह उस गलत दृष्टिकोण को बदलने का प्रयत्न है, जिसमें मनुष्य दूसरों के साथ अन्याय करते हुए स्वयं न्याय पाने की आशा करता है। इसमें भी धर्म के मूल में समन्वय का जो सिद्धान्त है, उसका प्रकारान्तर से प्रतिपादन है। इसमें सामाजिक आचरण में मनुष्यता की प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न है। राजनीति में जिस सत्य और अहिंसा ने सत्याग्रह की सृष्टि की, उसी ने धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में अस्पृश्यता-निवारण का आन्दोलन चलाया। यह इस बात की घोषणा करता है कि जहाँ घृणा है, विभाजन है, वहाँ धर्म नहीं है, वहाँ सत्य नहीं है, वहाँ न्याय नहीं है। राष्ट्र को स्वतन्त्रता के आन्दोलन में उच्चतर स्तर पर ले जाने के लिए आवश्यक है कि हम अपने आन्तरिक मल और कल्मष को धो बहायें।

हम अपने प्रति और पडोसियो के प्रति ईमानदार और सच्चे बने। चाहे धर्म कहिए, समाज-सेवा कहिए, देश-सेवा या राष्ट्रीयता कहिए, सब वस्तुत आत्म-चैतन्य के विस्तार एव विकास के विविध नाम या अवस्थाएँ है, इनमे से किसी की भी सिद्धि प्रेम के शोधन एव कर्तव्य तथा न्याय के प्रति उसके उपयुक्त प्रयोग के बिना सम्भव नही है। इसलिए राष्ट्र के मानस मे व्यापक चैतन्य एव न्याय की अनुभूति के लिए अस्पृश्यता-निवारण का कार्यक्रम उचित ही है, पर अस्पृश्यता-निवारण का सच्चा तात्पर्य इतना ही नही है कि अस्पृश्य कही या मानी जानेवाली कुछ जातियो को केवल हम छूने लगे। इसका मतलब प्रत्येक के प्रति समत्व का भाव अपने अन्दर पैदा करना है, इसका मतलब अहकार का त्याग है। इसका मतलब सब के प्रति न्याय की प्रवृत्ति धारण करना है और अनुचित विशेषाधिकारो का त्याग है। इसका तात्पर्य जीवन मे प्रेम और कर्तव्य, सत्य, और न्याय की साधना है। इसका अर्थ प्रत्येक दीन-दुर्विदग्ध, उत्पीडित तथा पतित की अवस्था मे अपना जो हिस्सा है, उसे अनुभव कर उनकी सेवा के रूप मे उसका प्रायश्चित्त करने की तैयारी है। इस प्रकार एक विशेष कार्यक्रम को लेकर भी इसका अन्त व्यापक समाज मे होता है।

ग्रामीण उद्योग-धन्धो की उन्नति तथा ग्राम-सेवा के कार्य तो न केवल सास्कृतिक एव सामाजिक दृष्टि से आवश्यक है, वरन राजनैतिक दृष्टि से भी इनका बडा महत्त्व है। स्वाधीनता की कोई दीवार भारतीय ग्रामो की छूटती हुई नाडी मे प्राण-सचार किये बिना खडी नही की जा सकती। जिनके लिए हमे स्वाधीनता चाहिए, उनमे उस चेतना का सञ्चार करना अत्यन्त आवश्यक है, जिससे वे अपने उद्धार के प्रयत्नो की सार्थकता समझ सके और स्वाधीनता के अवतरण एव भोग मे अपनी इच्छा से भाग ले सके।

आधुनिक भारतीय इतिहास में गाधी-युग —२

अवश्य ही भारत की विचित्र परिस्थिति के कारण राजनीतिक दृष्टि से गाधीवाद एव गाधी-युग मे जटिलताये भी आती जा रही है। समाज-विज्ञान के विद्यार्थी एव सत्य के साधक किसी वाद की चहारदीवारी मे बन्द नही हो सकते। गाधीवाद मे पहला दोष तो यह है कि जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे इसके प्रयोग के अभी निश्चित और स्पष्ट सिद्धान्त नही बन पाये है। इसलिए इसका अध्ययन करने वालो को कोई अच्छा पथ-प्रदर्शन प्राप्त नही है। कर्म पर इसने इतना ज़ोर दिया है कि अनेक बार विचार-शक्ति का स्वाभाविक विकास रुक जाता है। इसका एक कारण यह भी है कि गाधीजी एव गाधीवाद के अनुयायियो मे समाज-शास्त्र के वैज्ञानिक अध्ययन की रुचि एव प्रवृत्ति कम है। गाधीवाद के अच्छे विचारक भी अन्य सामाजिक विचार-धाराओ का व्यापक ज्ञान नही रखते। इस विषय मे वे उन समाजवादियो से कुछ बहुत अच्छे नही है, जो केवल पश्चिम के थोडे-से समाजवादी विचारको के ग्रन्थो तक ही अपने अध्ययन का अन्त समझते है और प्राचीन भारतीय ग्रन्थो, पद्धतियो एव विचार-धाराओ को अछूता ही छोड देते है। गाधीवाद मे स्पष्ट निर्णीत सिद्धान्तो एव मार्ग-निर्देश की कमी का एक कारण शायद यह भी है कि वह अभी प्रयोग की अवस्था मे है और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को स्पर्श करने एव एक ही व्यक्ति—गाधीजी—मे बहुत ज्यादा केन्द्रित होने के कारण वह अत्यन्त व्यक्तिपरक और रहस्यमय हो गया है।

दूसरा दोष इसमे आ रही अन्धानुगमन की प्रवृत्ति है। यह इस विचार-सस्था का ही दोष नही है, 'मिशनरी स्पिरिट' से किये जाने वाले सभी कार्यो मे, मात्रा-भेद से, यह सदा वर्त्तमान रहा है। दुनिया के प्राचीन एव पवित्र धर्मो की दुर्गति का कारण यही है। किसी महान् पुरुष से उसकी मृत्यु के समय जब पूछा गया कि आप दुनिया के लिए क्या सन्देश

छोडे जा रहे है, तव उसने कहा था—"मेरे समाधिस्तम्भ पर इतना लिखवा देना —'मेरे अनुयायियो से सावधान रहो ।' यह वात गाधीवाद के विपय मे भी दोहरायी जा सकती है । साधारणत कट्टर अनुयायी यह समझते है कि तफसील की वातो मे या सिद्धान्तो के प्रयोग मे गाधीजी के निश्चय से भिन्न कोई निश्चय नही किया जा सकता । गाधी-समूह मे अपवादो को छोडकर, स्वतन्त्र चिन्तन की वडी कमी है । गाधीवाद के लिए सवसे वडा खतरा यही है । ऐसा जान पडता है कि स्वय गाधीजी भी इससे अनभिज्ञ नही है । उन्होने स्वय कहा था कि मेरी मृत्यु के वाद कदाचित् मेरी पुस्तको के अर्थ को लेकर झगडा होगा । इससे अच्छा तो यही है कि मेरी पुस्तके मेरे साथ ही जला दी जाय ।

पर यह तो गाधीवाद या 'सर्वोदय' के अपने जीवन का प्रश्न है । उसकी देन आज भी इतनी हो चुकी है कि न केवल भारत, वरन् विश्व के आधुनिक इतिहास मे गाधी-युग एक महत्त्व का स्थान प्राप्त करेगा । सन्देह, अविश्वास, होड, प्रवञ्चना, आत्म-विस्मृति तथा हिसा के इस काल मे उसने आशा, प्रेम, भ्रातृत्व और आत्म-परिचय का प्रवल सन्देश दिया है, इस सन्देश भारत-जैसे एक महान् राष्ट्र को जाग्रत कर दिया है और ससार के उत्पीडित वर्ग के हाथ मे अन्याय एव उत्पीडन निवारणार्थ एक अत्यन्त शक्तिमान अस्त्र प्रदान किया है ।

१२

गांधीदर्शन-सूत्रावली

[सूत्र रूप में गांधीवाद की संक्षिप्त रूपरेखा]

१. आध्यात्मिक और धार्मिक

१ गावीवाद सत्य की साधना का विज्ञान है।

२ उसकी समस्त प्रवृत्तियाँ ब्रह्म मे उसके दृढ विश्वास से उदभूत हुई है।

३ यह ब्रह्म सर्वदृष्टा, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक है। जगत् उसी के कारण और उसी को लेकर है।

४ यह ब्रह्म प्राय गाधी-दर्शन में सत्य के नाम से पुकारा जाता है।

५ इस ब्रह्म या सत्य का साक्षात्कार ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है।

६ अहिंसा इस सत्य के साक्षात्कार का साधन है। यह सत्य का प्रेरक आधार और अधिष्ठान है।

७ ब्रह्म या सत्य की विश्वरूपता के कारण उसका अश सब मे है। जगत् मे उसी का प्रकाश है। अत उसके साक्षात्कार के लिए इस विश्वरूप से ऐक्य की अनुभूति जरूरी है। सर्वात्मा सबमे घटित है। आत्मैक्य से उसका अनुभव होता है और आत्मैक्य की अनुभूति करने वाला क्षुद्र अहता से मुक्त होने के कारण हिंसा की धारणा नही कर सकता।

८ जगत् की जितनी प्रवृत्तियाँ इस सत्य (लक्ष्य) और अहिंसा (साधन) के अनुकूल या उनकी अनुभूति को बढाने वाली है, श्रेयस्कर है, जो इनके विरुद्ध पडती है त्याज्य है।

९ इस सत्य-साधना के लिए व्यवहार-जगत् मे, मन, वचन और कर्म मे सत्य तथा अहिंसा की प्रतिष्ठा आवश्यक है।

१० शुभ हेतु, शुभ साधन से श्रेयस्कर कर्मो को ईश्वरार्पण भाव से

करना या फल के प्रति आसक्ति का त्याग ही धर्म का मूल है। इस प्रवृत्ति को बढ़ानेवाले सब कार्य धर्म हैं।

२. गांधीदर्शन की शृंखला

१ सत्य लक्ष्य है।

२ सत्य के लिए अहिंसा साधन है। (वैसे आत्यन्तिक रूप में अहिंसा स्वयं सत्य है)।

३ अहिंसा मन की एक प्रवृत्ति है। इसमे एक ओर दूसरो के प्रति विद्वेष का एकान्त अभाव है, दूसरी ओर सर्वात्मा से अभिन्नता की अनुभूति है।

४ अहिंसा के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है।

५ ब्रह्मचर्य का आत्यन्तिक अर्थ मन को ब्रह्म मे नियोजन करने की चेष्टा है। इसके लिए मन, वचन और शरीर की पवित्रता आवश्यक है इसलिए ब्रह्मचर्य का स्थूल अर्थ मन, वचन और शरीर से पवित्र रहना और अपनी शक्तियो को लक्ष्य (सत्य-साधना या ब्रह्म-साधना) मे केन्द्रित कर देना है।

६ ब्रह्मचर्य के लिए अस्वाद, अस्तेय और अपरिग्रह आवश्यक है।

७ अस्वाद याने केवल उसी और उतने ही आहार का ग्रहण जो साधना मे शरीर को स्वस्थ और उपयोगी रखने के लिए अनिवार्य है। जो शरीर के साथ मन की श्रेष्ठ वृत्तियो अर्थात् सात्विक भावनाओ को जाग्रत करने मे सहायक है। जिससे शरीर में आलस्य या परवशता का जन्म न हो। अस्तेय दूसरे की, या अपनी कही जाने वाली चीज का भी अनावश्यक प्रयोग अस्तेय है। अहिंसा मे भी इस वृत्ति का क्रियात्मक सम्बन्ध है। किसी चीज की फिलहाल अनिवार्य आवश्यकता

न होने पर भी भविष्य के लिए सचय करके रखना परिग्रह है। इस वृत्ति का अभाव रखना अपरिग्रह है। परिग्रह आध्यात्मिक दृष्टि से ब्रह्म या परमेश्वर मे विश्वास के अभाव वा शिथिलता का सूचक है और व्यावहारिक दृष्टि मे इसके कारण निजत्व एव परत्व के भाव का जन्म होता है। इसी प्रकार अपरिग्रह आध्यात्मिक दृष्टि से परमेश्वर या लक्ष्य में दृढ विश्वास और तदनुकूल आचरण का सूचक है।

८ सत्य और अहिसा का साधक अन्य व्यक्तियो और धर्मा के प्रति ममत्व का भाव रखता है।

गाधीदर्शन के सिद्धान्तो का सामाजिक प्रयोग

अहिसा

१ गाधीदर्शन की अहिसा केवल व्यक्तिगत ही नहीं है। उसका प्रयोग केवल निजी आध्यात्मिक साधना तक ही सीमित नही, जीवन और समाज के प्रत्येक क्षेत्र में उसका प्रयोग और उपयोग सभव और उचित है। गाधीदर्शन का विश्वास है कि विश्व की निलिप्त या नि स्वार्थ सेवा ही परमेश्वर की श्रेष्ठ उपासना है इसलिए वह अहिसा का व्यापक सगठन करके समाज की सेवा और परिष्कार का प्रयत्न करता है।

२ इसलिए यद्यपि सत्य तथा अहिसा की साधना का स्रोत एव केन्द्र व्यक्ति की आत्मा है पर उसका क्षेत्र समष्टिगत भी है। गाधीवाद अहिसा को सघटित करता और व्यापक रूप में बडी-बडी राजनीतिक तथा सामाजिक समस्याओ को हल करने के लिए उसका सामूहिक प्रयोग करता है। उसकी अहिसा और उसके सिद्धान्त सर्वांगीण है। साधक केवल निजी जीवन मे ही अहिसा का पालन

करके सन्तुष्ट नही रह मकता। समाज के प्रत्येक क्षेत्र मे, उमके चारो ओर, जो हिंमा फैली हुई होगी, उमे दूर कर वहाँ भी अहिंमा की प्रतिष्ठा करना उसका कर्त्तव्य है। जबतक समाज मे हिंसा है और अन्य लोग उमके कारण सन्मार्ग पर चलने मे अशक्त है तबतक उस हिंमा को शक्ति-भर दूरकर ममाज की सर्वांगीण उन्नति का मार्ग हर तरह से प्रशस्त करना उमका धर्म है।

सत्याग्रह :

३ 'सब सुखी हो, सब निरामय हो सब श्रेय को देखे,' यह गाँधीदर्शन का लक्ष्य है। इमी को उमकी भाषा मे 'सर्वोदय' कहा गया (जिसमे मबका मब तरह से विकास हो) इस सर्वोदय की साधना को सत्याग्रह तथा उसके साधक को सत्याग्रही कहा जाता है। सक्षेप में मत्याग्रह अधर्म के अहिंमात्मक विरोध को कहते है। यह निजी तथा मार्वजनिक दोनो प्रकार का हो मकता है।

४ मत्यागह निजी रूप मे आध्यात्मिक साधना है। ममष्टि रूप मे सामाजिक कल्याण की साधना है। वह व्यक्ति तथा समाज के दोषो को दूर कर दोनो के बीच हितकर मम्बन्ध स्थापित करता है।

५ सत्याग्रही की अहिंसा जितनी ही निर्मल और श्रेष्ठ होगी उतनी ही शक्ति अधर्म के प्रति किये जानेवाले उसके मत्याग्रह में होगी।

६ सत्याग्रही मानता है कि मनुष्य में ईश्वरत्व है। यह ईश्वरत्व या श्रेष्ठ सत्त्व कुमस्कार, कुमग, कुचाल तथा प्रतिकूल परिस्थिति के कारण दब जाता है। उस मूर्च्छित देवत्व को, सत्याग्रह द्वारा जाग्रत करने का प्रयत्न सत्याग्रही करता है। उसकी लडाई दोष, अपराध इत्यादि से है, दोषी या अपराधी मे नही। वह ऐसे मब सभव उपायो का प्रयोग उन दूषणो को दूर करने मे करता है जो अहिंसात्मक हो

तथा जिनके द्वारा न केवल समाज या समूह का कल्याण हो वरन् उस व्यक्ति, वर्ग, समूह या सस्था का भी सस्कार और कल्याण हो जिसके विरुद्ध सत्याग्रह किया गया है।

७ जहाँ अहिसा है तहाँ अभय है। इसलिए सत्याग्रह की पहली शर्त भय को सर्वथा नष्ट कर देना है। सत्याग्रही का कोई अस्त्र गुप्त नही है। वह कष्टो से भागता नही, न युद्ध के समय गोपनीयता से काम लेता है। वह अत्याचारी, आक्रामक या विरोधी के उत्पीडन का जबर्दस्त विरोध करता है पर विरोध करते हुए भी क्रोध नही करता, न मन मैला करता है। इस विरोध मे उसपर जो आपदाए आये उन्हे हँसते हुए सहन करता है।

८ इस प्रकार वह युद्ध मे अपने प्रतिपक्षी के विरुद्ध एक ऐसे अस्त्र का प्रयोग करता है जिसके प्रयोग और उपयोग से प्रतिपक्षी सर्वथा अपरिचित है। यह अस्त्र प्रतिपक्षी मे एक नैतिक सघर्ष भी पैदा कर देता है और इस प्रकार उसकी अधम वृत्तियो को कमजोर कर देता है।

९ जहाँ शासक और शासित वर्गो, देशो या समूहो के सम्बन्ध को लेकर सत्याग्रह किया जाता है तहा सत्याग्रह इस भावना के मूल पर अपना सगठन करता है कि कोई शासक वर्ग या शासन सस्था, शासित के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहयोग के बिना एक क्षण नही टिक सकती। इसलिए वह अहिसात्मक उपायो के सहारे यह प्रयत्न करता है कि शासित वर्ग सघटित रूप से अपना सम्पूर्ण सहयोग शासक वर्ग से हटा ले। इस युद्ध नीति से वह शासन सस्था या प्रतिपक्ष मे मनो-वाञ्छित सुधार, विकास, या आवश्यक होने पर उसका पूर्ण सहार भी कर सकता है।

१० गाधीवाद ने सत्याग्रह के रूप मे मानव-जाति को हिंसात्मक युद्ध की जगह नैतिक युद्ध करके विजयी होने का एक अत्यन्त शक्तिमान और कल्याणकारी अस्त्र प्रदान किया है ।

११ सक्षेप मे सत्याग्रह अधर्म से लडने या व्यक्ति एव समाज की मूर्छित आत्मा को जाग्रत करने का युद्ध-विज्ञान है ।

× × × ×

राजनीति और स्वराज्य

१२ गाधीवाद का आदर्श,स्वराज्य—रामराज्य है। रामराज्य का मतलब कोई पौराणिक राज्य-सस्था-विशेष नही । इसका मुख्य अभिप्राय न्याय और धर्म-प्रधान राज्य से है ।

१३ गाधीवाद का आदर्श स्वराज्य केवल बहुमत का स्वराज्य नही है । यह ठीक है कि बहुमत का राज्य वर्तमान अवस्था मे एक प्रगति का सूचक है पर गाधीवाद का आदर्श 'अधिक-मे-अधिक लोगो का अधिक-से-अधिक सुख' (Maximum comfort for maximum number) मे समाप्त नही होजाता वह 'सब लोगो के लिए अधिक-से-अधिक उचित सुविधा और सुख' के आदर्श को लेकर चलता है ।

१४ गाधीवाद को शासन तत्र के बाह्य रूप के प्रति कोई आग्रह या पक्षपात नही है । यह राजतत्र भी हो सकता है, प्रजातत्र भी हो सकता है—जब तक उसकी आवश्यक शर्त पूरी होती रहे, जब-तक उसका आधार हिंसा और जबर्दस्ती, अन्याय और अधर्म नही है ।

१५ गाधीवाद के स्वराज्य मे धन-वितरण की वर्तमान विषमता न होगी, कोई भूखा-नगा न रहेगा, कोई बेकार न होगा, सबकी शक्तियाँ समाज के न्यायपूर्ण उत्थान एव हित मे लगती होगी । न्याय सुलभ होगा, बहुमत अल्पमत की स्वतत्रता की अपनी ही स्वतत्रता की तरह

रक्षा करेगा। इसमे समत्व का भाव रहेगा। प्रत्येक समर्थ व्यक्ति के लिए शारीरिक श्रम अनिवार्य होगा। कोई बैठे निठल्ले न खा सकेगा।

१६ गाधीवाद का आदर्श स्वराज्य एक प्रकार का सुसस्कृत 'अराजकवाद' (एनार्किज्म) होगा जिसमे मनुष्य के आचरण पर राज्य की ओर से कम-से-कम नियत्रण होगा। मनुष्य की श्रेष्ठ वृत्तियो को उभरने और विकसित होने का मौका दिया जायगा। लोग दण्ड भय से नही, दूसरे के हित से अपने हित का सम्बन्ध है इसे समझते हुए एक-दूसरे के प्रति, समाज के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करेगे।

× × × ×

आर्थिक, व्यापारिक, औद्योगिक क्षेत्र

१७ अपने गलत दृष्टिकोण और नैतिक आधार से शून्य होने के कारण वर्तमान अर्थशास्त्र ने (जो तत्त्वत केवल पश्चिम का अर्थशास्त्र है) व्यक्ति के जीवन मे भोग-विलास और समाज मे पाखण्ड, आत्म-वचना और कृत्रिमता की वृद्धि की है। धन सामाजिक मर्यादा और श्रेष्ठता की प्रधान कसौटी और साधन बन गया है। इससे समाज मे गलत मूल्यो (Values) की सृष्टि हुई। है। इसके कारण प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग और समूह मे धन की तृष्णा आई है और उस तृष्णा के कारण अधिकाधिक आर्थिक लाभ उठाने, धन सग्रह करने तदर्थ शोषण, लूट, होड, अत्याचार इत्यादि की वृद्धि हुई है।

१८ गाधीवाद का अर्थशास्त्र नीति से रहित नही है, वह नीति पर आश्रित है। वह वर्तमान आर्थिक दृष्टिकोण का विरोधी है। वह समाज-हित को श्रम एव साहसिकता के मूल मे रखना चाहता है। वह धन को उससे अधिक महत्त्व नही देता जितना दिया जाना

चाहिए। वह ऐसी अर्थव्यवस्था चाहता है जिसमें धन का विषम वितरण न हो, जीवन मे सादगी और स्वच्छता आये, व्यक्तियो, वर्गों, समूहो, और राष्ट्रो में अहितकर होड न हो सके। प्रत्येक को अपनी गुजर-बसर की काफी सुविधा मिलनी चाहिए।

१९ गाधीवाद बहुत बडे पैमाने पर बडे-बडे उद्योग-धन्धे कायम न करेगा। वह देश के शिल्प के स्थानीय और देशी रूप एव सगठन को यथा-सम्भव सुरक्षित रखेगा। उद्योगो में निश्केन्द्रीयकरण की नीति की ओर उसका झुकाव है। क्योकि बिना इनके ग्रामीण जीवन की रक्षा और उन्नति असम्भव है। वह छोटे-छोटे और यथासम्भव स्वतन्त्र समूह, ग्राम-सस्था एव उद्योग के रूप में स्थापित करना चाहता है।

२० यदि आपद्धर्म रूप में किसी समय, बडे-बडे कल-कारखाने खोलने पडे तो उन या पहले के बडे कारखानो एव उद्योगो पर वह राज्य का नियत्रण उस सीमा तक रखेगा कि उनके प्रभाव का दुरुपयोग न हो सके।

२१ वह अनावश्यक और फालतू उत्पत्ति का विरोधी है।

२२ वह व्यापार तथा उद्योग से आर्थिक लाभ की प्रेरणा को हटायेगा।

× × × ×

शिक्षा :

२३ केवल अक्षर-ज्ञान तथा पुस्तकीय पठन-पाठन का नाम शिक्षा नही है।

२४ सच्ची शिक्षा मनुष्य में स्वार्थ-भाव को हटाकर उसकी चित्त-वृत्तियो को सस्कृत तथा उदार बनाती है और मनुष्य को सत्य और असत्य, पुण्य-पाप, कर्तव्य-अकर्तव्य के निर्णय की शक्ति देती है।

२५ गाधीवाद ऐसी ही शिक्षा का समर्थक है जो व्यक्ति को अपने ऊपर नियत्रण रखने में सहायक हो। जो उसे समाज के लिए हितकारी

और यथासम्भव स्वावलम्वी वनावे। जिससे झूठा अहकार एव वडाई-छोटाई की भावना न पैदा हो। जो मनुष्य को समाज मे अपना उपयुक्त स्थान ग्रहण करने और अपना कर्तव्य करने के योग्य वनावे और जो आचरण मे प्रकाशित हो। मतलव जो मनुष्य को क्षुद्रता के वन्धनो से मुक्त करती है, वही शिक्षा या विद्या है।

२६ शिक्षा मे शरीर, मन तथा आत्मा तीनो की चेतनाएँ एव सभावनाएँ दिन-दिन स्पष्ट और विकसित होनी चाहिएँ।